UNIVERSAL LIBRARY

OU_182104

UNIVERSAL LIBRARY

Osmania University Library

80 Accession No. H 3493
61A

should be returned on or before the date
below.

अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला, ग्रन्थ ३

अनुसन्धान का स्वरूप

अनुसन्धान के मूल सिद्धान्तों के विषय में हिन्दी के प्रतिष्ठित विद्वानों के प्रामाणिक लेखों का संकलन

सम्पादिका

डा० सावित्री सिन्हा

एम. ए., पी-एच. डी.

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

की ओर से

आत्माराम एंड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता

काश्मीरी गेट

दिल्ली ६

द्वारा प्रकाशित

१९५४

प्रकाशक—
रामलाल पुरी
आत्माराम एंड सन्स
काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

प्रथम संस्करण, १९५४
मूल्य तीन रुपये
रु० ३.५०

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
क्वीन्स रोड दिल्ली

हमारी योजना

'अनुसन्धान का स्वरूप' हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला का तीसरा प्रकाशन है। हिन्दी अनुसन्धान परिषद् हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, की संस्था है जिसकी स्थापना अक्तूबर १९५२ में हुई थी। इसका कार्य-क्षेत्र हिन्दी भाषा एवं साहित्य-विषयक अनुसन्धान तक ही सीमित है और कार्यक्रम मूलतः दो भागों में विभक्त है। पहले विभाग पर गवेषणात्मक अनुशीलन का और दूसरे पर उसके फलस्वरूप उपलब्ध साहित्य के प्रकाशन का दायित्व है।

परिषद् ने इस वर्ष पाँच ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना बनाई है। इनमें से दो ग्रन्थ 'हिन्दी काव्यालंकारसूत्र' और 'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां' प्रकाशित हो चुके हैं। तीसरी कृति यह आपके समक्ष प्रस्तुत है। शेष दो ग्रन्थ 'हिन्दी विक्रोक्तिजीवित' और 'हिन्दी साहित्य पर सूफ़ीमत का प्रभाव' भी प्रेस में है। उपर्युक्त ग्रन्थों में से 'हिन्दी काव्यालंकारसूत्र' आचार्य वामन की अमर कृति 'काव्यालंकारसूत्र (वृत्ति)' का, और 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' आचार्य कुन्तक के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवितम्' का हिन्दी-रूपान्तर है। शेष दोनों कृतियां दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी. एच. डी. के लिए स्वीकृत गवेषणात्मक प्रबन्ध हैं। इस योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की सुप्रसिद्ध प्रकाशन संस्था आत्माराम एंड संस के अध्यक्ष श्री रामलाल पुरी का सक्रिय सहयोग प्राप्त है। उनके अमूल्य सहयोग ने हमें प्रायः सभी प्रकार की व्यावहारिक चिन्ताओं से मुक्त कर यह अवसर दिया है कि हम अपना ध्यान और शक्ति पूर्णतः साहित्यिक कार्य पर ही केन्द्रित कर सकें। हिन्दी अनुसन्धान परिषद् श्री पुरी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती है।

—नगेन्द्र

अध्यक्ष

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्

चैत्रशुक्ला प्रतिपदा, २०११ वि०

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रकाशक—

रामलाल पुरी

आत्माराम एंड सन्स

काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

प्रथम संस्करण, १९५४

~~मूल्य तीन रुपये~~

रु० ३.५०

मुद्रक

श्यामकुमार गर्ग

हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस

क्वीन्स रोड दिल्ली

हमारी योजना

'अनुसन्धान का स्वरूप' हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला का तीसरा प्रकाशन है। हिन्दी अनुसन्धान परिषद् हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, की संस्था है जिसकी स्थापना अक्तूबर १९५२ में हुई थी। इसका कार्य-क्षेत्र हिन्दी भाषा एवं साहित्य-विषयक अनुसन्धान तक ही सीमित है और कार्यक्रम मूलतः दो भागों में विभक्त है। पहले विभाग पर गवेषणात्मक अनुशीलन का और दूसरे पर उसके फलस्वरूप उपलब्ध साहित्य के प्रकाशन का दायित्व है।

परिषद् ने इस वर्ष पाँच ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना बनाई है। इनमें से दो ग्रन्थ 'हिन्दी काव्यालंकारसूत्र' और 'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां' प्रकाशित हो चुके हैं। तीसरी कृति यह आपके समक्ष प्रस्तुत है। शेष दो ग्रन्थ 'हिन्दी विक्रोक्तिजीवित' और 'हिन्दी साहित्य पर सूफ़ीमत का प्रभाव' भी प्रेस में हैं। उपर्युक्त ग्रन्थों में से 'हिन्दी काव्यालंकारसूत्र' आचार्य वामन की अमर कृति 'काव्यालंकारसूत्र (वृत्ति)' का, और 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' आचार्य कुन्तक के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवितम्' का हिन्दी-रूपान्तर है। शेष दोनों कृतियां दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी. एच. डी. के लिए स्वीकृत गवेषणात्मक प्रबन्ध हैं। इस योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की सुप्रसिद्ध प्रकाशन संस्था आत्माराम एंड संस के अध्यक्ष श्री रामलाल पुरी का सक्रिय सहयोग प्राप्त है। उनके अमूल्य सहयोग ने हमें प्रायः सभी प्रकार की व्यावहारिक चिन्ताओं से मुक्त कर यह अवसर दिया है कि हम अपना ध्यान और शक्ति पूर्णतः साहित्यिक कार्य पर ही केन्द्रित कर सकें। हिन्दी अनुसन्धान परिषद् श्री पुरी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती है।

—नगेन्द्र

अध्यक्ष

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्

चैत्रशुक्ला प्रतिपदा, २०११ वि० दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सम्पादकीय

यद्यपि व्यवहार रूप में हिन्दी साहित्य तथा भाषा के विविध क्षेत्रों में शोध-कार्य वेग से आगे बढ़ रहा है, तथापि सिद्धान्त रूप में अनुसन्धान-विषयक मान्यताओं की सम्यक् विवेचना एवं स्थापना अभी तक नहीं हो सकी है। दिल्ली विश्वविद्यालय में 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद्' की स्थापना के साथ ही गत वर्ष हमारे विभाग ने हिन्दी-अनुसन्धाता की इस आवश्यकता का अनुभव करते हुए उक्त विषय पर अधिकारी विद्वानों की एक व्याख्यानमाला का आयोजन किया। इस व्याख्यानमाला का का उद्घाटन विश्वविद्यालय के अनुसन्धान-मंडल के तत्कालीन अध्यक्ष डाक्टर वी० के० आर० वी० राव ने किया और हमारे पहले सम्मान्य वक्ता थे भारत के प्रसिद्ध इतिहासकार डा० राधाकुमुद मुखर्जी जिन्होंने क्रमशः अर्थशास्त्र और इतिहास के क्षेत्र में अनुसन्धान के स्वरूप का गम्भीर विश्लेषण किया। हमारा विचार इन दोनों विद्वानों के महत्त्वपूर्ण वक्तव्यों को लिपिबद्ध कर प्रस्तुत संकलन में समाविष्ट करने का था किन्तु बाद में हमने यह अनुभव किया कि इस प्रकार का प्रयत्न कदाचित् इन दोनों प्रतिभाशाली वक्ताओं के साथ न्याय न कर सकेगा। अतएव यह विचार स्थगित कर देना पड़ा। इसके उपरान्त अनुसन्धान परिषद् के तत्वावधान में एक विचार-गोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमें अनेक विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभागों के अध्यक्षों तथा अन्य प्राध्यापकों ने 'अनुसन्धान के स्वरूप' पर विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रकाश डाला। प्रस्तुत संकलन का बीजारोपण से इसी सम्मेलन में हुआ।

यह ग्रन्थ वास्तव में इन विद्वानों के अनुग्रह का ही परिणाम है। हमारी अनुसन्धान परिषद् तो केवल निमित्त मात्र है। अतएव इनके

प्रतिशाब्दिक आभार प्रकट करना केवल औपचारिकता होगी।

अन्त में मैं अपने विभाग के अध्यक्ष श्रद्धेय डा० नगेन्द्र, तथा अपने सहयोगी डा० ओम्प्रकाश और डा० उदयभानुसिंह के प्रति आभार प्रकट करती हूँ जिनके सद्भाव और सहयोग से ही मैं अपने दायित्व का निर्वाह कर सकी हूँ।

हमें आशा है कि हिन्दी अनुसंधित्सु-समाज इस संकलन का स्वागत करेगा।

अनुसंधान परिषद्
हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली
२८—३—५४

सावित्री सिन्हा

१

ऐतिहासिक खोज की रूपरेखा

डा० विश्वेश्वर प्रसाद

एम. ए., डी. लिट्.

अध्यक्ष, अनुसन्धान मण्डल

दिल्ली विश्वविद्यालय

दिल्ली

विद्यार्थी जीवन में जब मैं इतिहास का विशिष्ट अध्ययन करने लगा तो मेरे एक मित्र बहुधा कहा करते थे कि क्या 'गड़े मुरदे उखाड़ते हो' और हँसी में कह दिया करते थे कि इन इतिहासकारों का और काम ही क्या है सिवाय इसके कि बताएं हेनरी की कितनी औरतें थीं और अकबर ने कितनी शादियाँ कीं और फलां कब मरा या पैदा हुआ। उनका यह मजाक मुझ को तब बुरा लगता था और मैं विरोध करता था। पर जब अनुभव की मात्रा बढ़ी और अनेक पुस्तकें देखीं तो कभी-कभी यह संशय होने लगता था कि कदाचित् मेरे मित्र की इतिहास सम्बन्धी धारणा निराधार न थी। हमारे देश में अनेक इतिहास-खोजियों का ध्येय केवल घटनाओं का निर्धारण ही है और अपनी तमाम शक्ति वह इसी में व्यय कर देते हैं कि एक घटना के सम्बन्ध में सब उल्लिखित

सामग्री एकत्र करें, उसको सूत्र-बद्ध करें और किसी तिथि या दिन के घण्टे के बारे में ही झगड़ा करते रहें। इस व्यवस्था को देखकर मुझे इसकी फ़िक्र हुई कि जानूँ इतिहास क्या है और ऐतिहासिक खोज का प्रयोजन या उसका रूप क्या है अथवा क्या होना चाहिए ? इतिहास केवल घटना-सूची है और घटनाओं का विवरण ही इतिहासकार का एकाकी ध्येय है इससे सहमत होना अपने मित्र के पुराने मज़ाक का समर्थन करना ही था, इसलिए मै इतिहास के इस आशय को मानने को तैयार न था। पर यदि यह नहीं मानता हूँ तो सोचना है कि फिर इतिहास है क्या ? घटनाओं से भिन्न इतिहास का कोई अस्तित्व नहीं है यह प्रत्यक्ष है, फिर भी इस पर विचार करना है कि घटना क्या है और उसका विवरण किस प्रकार होना चाहिए ?

घटना (Event) और होनी (Occurrence या Fact) में विशेष अन्तर है। जहाँ होनी का सम्बन्ध केवल किसी विशेष कार्य या कुछ हो जाने से है वहाँ घटना का अर्थ क्रम है और घटना होनियों के क्रमिक समूह से सम्बन्ध रखती है। संसार में प्रति क्षण कुछ न कुछ होनी होती रहती है परन्तु उसमें से प्रत्येक को हम घटना नहीं कहते और न उन सब को हम ऐतिहासिक घटना का रूप देते है। अधिकतर उन्हीं होनियों के लिए घटना नाम दिया जाता है जो एक क्रम से पूरी हो चुकी हैं और जिनका सम्बन्ध कार्य-कारण रूप से अन्य होनियों से भूत या भविष्यत् में होता है। इस प्रकार की घटनाएँ इतिहास के अध्ययन का विषय हैं परन्तु यहाँ भी घटनाओं के क्रम, उनके परस्पर संघर्ष और उनके कार्य-कारण सम्बन्ध का अध्ययन ही इतिहास का उद्देश्य है। इस परिभाषा के अनुसार इतिहास और ऐतिहासिक खोज का प्रधान उद्देश्य घटनाओं का उनके पारस्परिक सम्बन्ध और संघर्ष में अध्ययन करना है। जैसे ज्योतिष का ध्येय नक्षत्रों, ग्रहों और अन्य तारों को जानना और उससे अधिक उनका पारस्परिक सम्बन्ध तथा सम्पूर्ण नक्षत्र जगत में सामंजस्य का ज्ञान पाना है वैसे ही और उसी मात्रा में

इतिहास का ध्येय घटनाओं को समझना है।

इतिहासज्ञ और कवि सत्य के पुजारी होते हैं और उनका धर्म सत्य का परिपोषण है। कवि ध्रुव सत्य को निर्धारित करता है और अपनी वाणी द्वारा मनुष्य जाति को सत्य मार्ग पर चलने का उपदेश देता है। कवि का सत्य अनुभव दत्त है और वह विश्व क्रम के सिद्धान्त का संकेत है। इतिहासज्ञ भी सत्य का अन्वेषण करता है और मानुषिक जगत के क्रम के मौलिक सिद्धान्तों की खोज करता है। वह अतीत से नाता जोड़ता है परन्तु वह भूतकाल के अनुभव से प्राप्त सत्य को वर्तमान की कसौटी पर परखने का प्रयत्न करता है और उसको भविष्य का पथ-प्रदर्शक-सा मानता है। इसी कारण इतिहासज्ञ को त्रिकालज्ञ कहा जाता है। परन्तु जहाँ सत्य का पुजारी अप्रत्यक्ष रूप से वर्तमान और भविष्य को दृष्टि में रखता है, उसका अतीत से ही अकेला नाता रहता है और वह नजूमी या नेता न बनकर और केवल कल्पना-व्योम में न उड़कर अपने पैर सदा ही कठोर भूमि पर रखता है और भूतकाल की घटनाओं का ही अध्ययन करता है। परन्तु इसके साथ इतना और भी मानना पड़ेगा कि इतिहासज्ञ भूतकाल की घटनाओं को वर्तमान के दृष्टि-कोण से देखता है और भूतकाल की घटनाओं को आधुनिक शीशे में ढालता है। इसका अर्थ यह हुआ कि इतिहासकार परोक्ष तथ्यों की उन्हीं समस्याओं या संस्थाओं का अध्ययन करता है जिनका किसी प्रकार प्रत्यक्ष संस्थाओं, विधियों और क्रमों से सम्बन्ध होता है या जिन से आज की स्थितियों के असली रूप पर प्रकाश पड़ता है। इस समीक्षा से ऐतिहासिक खोज के विषय का निश्चय हो गया। वही विषय उपयुक्त है जो पुराने समय की संस्थाओं, सामाजिक धारणाओं और सांस्कृतिक प्रगतियों का अध्ययन करता है और जो वर्तमान की संस्थाओं से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सम्बन्ध स्थापित करता है। घटनाओं का विश्लेषण और उनका अध्ययन इसी दृष्टि से होना चाहिए।

शोधक विषय चुनते ही उससे अपना एकत्व स्थापित कर लेता है

और उसका प्रथम प्रयास उन संकेतों और चिह्नों को पाना होता है जिनसे घटनाओं का पता लगता है। यह सामग्री शिलालेखों, ताम्र-लेखों, पुस्तकों, हस्तलेखों, दस्तावेजों (Documents) प्रभूत स्रोतों से प्राप्त होती है। अपने विषय के अनुकूल सामग्री की सूची बनाना शोधक का प्रथम कर्तव्य होता है। तदुपरान्त वह इसका क्रमानुसार अध्ययन करता है और सामग्री में निहित घटनाओं के क्रम और सार को जानने का प्रयत्न करता है। कोई भी घटना जो इस ढर्रे में नहीं आती, उसके लिए मान्य नहीं है, और इस प्रकार का परिहार ही खोज का प्रधान अंग है। जब शोधक घटना-क्रम को जान लेता है तो उसका दूसरा कार्य उन घटनाओं के परस्पर सम्बन्ध और संघर्ष का विश्लेषण होता है, क्योंकि इसी के द्वारा यह पता लग सकता है कि अमुक घटना-क्रम अथवा संस्था-विकास में किन प्रभावों, प्रगतियों या शक्तियों का हाथ रहा है जिनके कारण इतिहास का रूप अन्य न होकर अमुक हुआ है। संघर्ष सम्बन्ध अध्ययन, प्रभाव प्रगति ज्ञान ही शोधक के मुख्य कार्य होते हैं और इसी को व्याख्यान कहा जाता है। शोध के दो प्रधान अंग हैं—घटना-क्रम स्थापित करना और उनका उचित व्याख्यान करना। पहली प्रक्रिया एक सीमा तक यान्त्रिक होती है, परन्तु दूसरी में कल्पना का स्थान प्रधान होता है। परन्तु इतिहास-शोधक की कल्पना कवि की उड़ान न होकर पार्थिव होती है और घटनाओं की सीमा से बँधी रहती है। इतिहासकार भी घटनाओं में निहित भावनाओं की खोज करता है। परन्तु उसके लिए इसका रूप सर्वव्यापी ब्रह्म का न होकर शरीर में निहित जीवात्मा का होता है और वह भी ऐसा जीव जो कलेवर के बिना अस्तित्व ही नहीं रखता। जब तक व्याख्यान इस प्रकार सीमाबद्ध नहीं होता और कठोर घटनाओं से सम्बन्धित नहीं होता, वह इतिहास का ध्येय नहीं बन सकता।

इन दो क्रियाओं का सम्पादन होने के पश्चात् निबन्ध लिखने का कार्य प्रारम्भ होता है और यहाँ पर कला का अभिनय शुरू होता है।

भाषा की शुद्धता, अभिव्यक्ति में आनुगुणत्व का होना और मूल विषय का प्रतिपादन ये तीन निबन्ध के प्रमुख अंग होते हैं और इनके सुचारु रूप से संपादन में ही कला का स्थान होता है। ऐतिहासिक कल्पना या व्याख्यान को अपनी हदों में जकड़ते हुए और तथ्य के आधार को न छोड़ते हुए इतिहास क्रम, संस्था की गति आदि ऐतिहासिक गत्यात्मकता को सर्वग्राह्य बनाने में ही कला की विशिष्टता है और जो शोधक जिस मात्रा में इस गुण को पा लेता है उतना ही आकर्षक और उपादेय उसका कार्य होता है।

खोज, कल्पना और कला इन तीनों का संगम इतिहास शोध के लिए आवश्यक है। इनके अतिरिक्त शोधक को एक अन्य मनोनुशासन का भी सहारा लेना आवश्यक होता है, और वह है वस्तुपरक दृष्टि। इसका अर्थ है कि घटनाएँ स्वयं ही निष्कर्ष का संकेत करें न कि शोधक किसी (हाइपोथेसिस) या पूर्व-निर्णीत सिद्धान्त के वशीभूत होकर निष्कर्ष को प्रभावित करे। इतिहास को विज्ञान कहा जाता है तो केवल इसीलिए कि जिस प्रकार विज्ञान में प्रयोग द्वारा प्राप्त तथ्यों के आधार पर ही कोई सिद्धान्त बनाया जाता है और शोधक की अपनी हस्ती या उसकी प्रकल्पना उन सिद्धान्तों को प्रभावित नहीं करती वैसे ही इतिहासकार भी अपनी सामग्री ही की सीमा में बँधा रहता है और उसी को निष्कर्ष निकालने में मान्य रखता है। न्याय-शास्त्र की भाषा में इतिहास आगमनात्मक होता है न कि निगमनात्मक और उसमें प्रकल्पना (hypothesis) का विशेष महत्त्व नहीं रहता। लेकिन कल्पनामय, कलात्मक इतिहास कहाँ तक केवल वस्तुपरकता का ही पुतला हो सकता है, इस सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोगों का मत है कि इतिहासकार अपने काल, विचारों और भावनाओं से अपने को पूर्णतः पृथक् नहीं कर सकता और प्रयत्न करते हुए भी व्यक्ति-तत्त्व को पूर्णतः छोड़ नहीं सकता। इस मत में सत्य है और बहुधा इतिहासकार राष्ट्रीय, धार्मिक या अन्य वादात्मक धारणाओं से इतने प्रभावित

रहते हैं कि इतिहास के क्रम का निष्पक्ष विश्लेषण करने में असमर्थ होते हैं। परन्तु यह उनकी अपूर्णता का चिह्न है। इतिहासकार यद्यपि वर्तमान के चश्मे से अतीत को देखता है परन्तु इसके बाद वह अपना व्यक्तित्व अपनी खोजी हुई सामग्री में विलीन कर देता है, वह केवल वैज्ञानिक होता है न कि प्रकल्पनायुक्त अथवा व्यक्ति-परक। उसका कार्य किसी विशेष सिद्धान्त को सिद्ध करना नहीं है बल्कि सिद्धान्त का निकालना और उसकी गति का निरूपण करना है। जिस मात्रा में व्यक्ति-तत्व विलुप्त होता है और वस्तु-तत्व प्रदर्शित होता है उसी मात्रा में इतिहास-शोधक सफल होता है।

उपर्युक्त लक्षणों से सुसज्जित शोध को ही ऐतिहासिक या वैज्ञानिक शोध का दर्जा मिलता है, इससे विपरीत नहीं, और यह कसौटी अन्य विषयों से सम्बद्ध शोध के लिए भी उपयुक्त है क्योंकि शोध का मूल रूप विषयानुसार नहीं बदल सकता। शोध में कल्पना का विशेष स्थान है पर जैसा पहले कहा गया है वह कल्पना सीमाबद्ध होनी चाहिए, सामग्री के कठोर पाश से पूर्णतः विमुक्त नहीं। इतिहास, साहित्य, विज्ञान या दर्शन सभी का उद्देश्य प्रकृति या समाज में सन्निहित आत्मा की खोज करना है, प्रत्येक के साधन भिन्न हो सकते हैं परन्तु मूल सत्य तो एक ही है और उसके जानने का माप-दण्ड और उसके पाने का योग तो एक ही होगा। इन सभी विषयों में गहरी खोज के लिए साधना का रूप एक समान ही होगा। अतः मेरे अनुसार प्रत्येक शोधक के लिए आवश्यक है कि वह अपने विषय-सम्पादन के लिए समुचित तथ्यों की खोज करे, उसका उचित व्याख्यान करे और तदुपरान्त एक कलाकार के समान उसको निबन्ध का रूप दे लेकिन इस सब में अपने व्यक्तित्व को अलग रखे और तथ्यों या सामग्री को स्वयं ही अपना असली रूप और उसमें निहित सत्य को व्यक्त करने दे। जो इस साधन में सफल है वही सच्चा शोधक है।

२

खोज सम्बन्धी कुछ अनुभव तथा समस्याएँ

डा० धीरेन्द्र वर्मा

एम. ए., डी. लिट्.

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

प्रयाग विश्वविद्यालय

(खोज के मूलाधार स्तम्भ तीन हैं—(१) अन्वेषक विद्यार्थी, (२) निरीक्षक गुरु तथा (३) सामग्री और साधन। इन तीनों के समुचित समन्वय तथा सहयोग पर सफल खोज निर्भर होती है।)

विद्यार्थी का साधारण अध्ययन व्यापक तथा वैज्ञानिक होना चाहिए। उसे सच्चा विद्यानुराग होना चाहिए तथा उसका परिश्रमशील होना भी आवश्यक है। एम. ए. में प्रथम श्रेणी पाने वाले विद्यार्थियों में से ही प्रायः खोज करने वाले आते हैं, किन्तु कभी-कभी द्वितीय श्रेणी के विद्यार्थी भी खोज के कार्य में अत्यन्त सफल सिद्ध हुए हैं। खोज के क्षेत्र में जाने वाले विद्यार्थियों के सामने इस समय सबसे बड़ी समस्या आर्थिक है। निश्चिन्तता के साथ पूरा समय देने पर साधारण खोज कार्य कम से कम तीन-चार वर्ष तो ले ही लेता है। डी. लिट्. का थीसिस तैयार करने में तो प्रायः दस-बारह वर्ष लग जाते हैं। योग्य विद्यार्थी प्रायः साधारण परिवारों के होते हैं, अतः इनके अभिभावक

इतने लम्बे काल तक इतना व्यय करने में असमर्थ होते हैं। फलस्वरूप विद्यार्थी को स्वयं अर्थोपार्जन की चिन्ता में फँसना पड़ता है जिसके कारण वह अपनी पूर्ण शक्ति और समस्त समय खोज के कार्य में नहीं लगा पाता है। बहुत से विद्यार्थी एक-दो वर्ष काम करने के उपरान्त हताश होकर या थककर कार्य को छोड़ देते हैं। कुछ को यदि संयोग से कोई अन्य ठीक स्थान मिल गया तो उधर चले जाते हैं। गत २५ वर्ष का मेरा अनुभव यह है कि खोज का कार्य प्रारम्भ करने वाले चार विद्यार्थियों में एक विद्यार्थी प्रायः अन्त तक लगा रह सका और खोज का कार्य पूरा कर सका। उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण प्रत्येक विद्यार्थी कम से कम समय में सरल से सरल विषय पर काम करना चाहता है, किन्तु इस प्रवृत्ति को रोकने का उत्तरदायित्व निरीक्षक पर है।

जिसे स्वयं खोज के क्षेत्र का अनुभव नहीं है और इस पथ पर पर्याप्त रूप से अग्रसर नहीं है वह निरीक्षक का कार्य सफलता के साथ नहीं कर सकता। विद्यार्थी तथा निरीक्षक में नियमित संपर्क रहना आवश्यक है। प्रारम्भ में सप्ताह में एक बार भी मिलते रहना पर्याप्त हो सकता है, किन्तु जैसे-जैसे काम आगे बढ़ता है निरीक्षक को अधिक से अधिक समय कार्य की देख-रेख में लगाना पड़ता है। निरीक्षक का प्रथम कर्त्तव्य खोज की कार्य-शैली की शिक्षा देना है—सामग्री की क्रमबद्ध सूची किस प्रकार बनाई जाय, सामग्री का अध्ययन किस प्रकार किया जाय तथा नोट किस प्रकार लिए जायँ, इन नोटों को वैज्ञानिक ढंग से शीर्षकों में बाँटकर उनकी फाइलें कैसे रखनी चाहिएँ, इन सूचनाओं के आधार पर थीसिस का प्रथम मसविदा कैसे तैयार करना चाहिए, थीसिस में किन-किन बातों को दिया जाय, किनको न दिया जाय, किस तरह बातों को दिया जाय तथा अकाट्य निष्कर्ष कैसे निकाले जायँ, थीसिस की भाषा-शैली कैसी होनी चाहिए, अन्तिम मसविदा तैयार करने में किन बातों पर ध्यान दिया जाय तथा अन्त में टाइप कराने

अथवा छपवाने में किस तरह पूर्ण सावधानी रखी जाय जिससे कि यथासम्भव एक भी भूल न रह जाय।

निरीक्षक को चाहिए कि वह विद्यार्थी को धीरे-धीरे खोज के उद्देश्य तथा वास्तविक दृष्टिकोण को समझावे। किसी विषय के सम्बन्ध में भूतकालीन अथवा वर्तमान वास्तविकता से सम्बद्ध अज्ञात सत्य का निश्चित ज्ञान द्वारा अन्वेषण ही वैज्ञानिक खोज कहलाती है। भूत तथा वर्तमान के अनुभवों से निकाले गए निष्कर्ष समान परिस्थितियों में भविष्य पर भी प्रकाश डाल सकते हैं, किन्तु भविष्य के सम्बन्ध में निश्चित खोज नहीं होती। अकसर इस प्रकार के संदेह भी विद्यार्थी के हृदय में उठते हैं कि क्या खोज के सम्बन्ध में उपयोगिता की भावना के लिए स्थान है। वास्तव में उपयोगिता के भ्रम में किसी विषय की खोज प्रारम्भ करना विशुद्ध अन्वेषण का दृष्टिकोण नहीं होना चाहिए। यों मनुष्य के लिए प्रत्येक सचाई की जानकारी उपयोगी हो सकती है। देश-काल के अनुसार तुलनात्मक उपयोगिता भी सम्भव है। खोज के प्रारम्भिक विषय व्यवहारिक दृष्टि से व्यापक हो सकते हैं, किन्तु वास्तविक खोज के विषय अधिक से अधिक सीमित होने चाहिएँ और फिर उनसे सम्बद्ध कोई भी सामग्री अथवा पूर्ण परीक्षा छूटनी नहीं चाहिए।

विद्यार्थी तथा निरीक्षक के उचित चुनाव के बाद सामग्री के अभाव में अथवा परीक्षा करने के साधनों की कठिनाई के कारण खोज का कार्य असफल हो सकता है। हिन्दी से सम्बद्ध खोज के क्षेत्र में सामग्री प्राप्त करने की कठिनाई एक बहुत बड़ी बाधा है। देश में हस्तलिखित अथवा प्रकाशित साहित्य के पूर्ण पुस्तकालय अभी नहीं हैं। अतः विद्यार्थियों को सामग्री एकत्र करने के लिए जगह-जगह भटकना पड़ता है। अन्य भाषाओं और साहित्यों की जानकारी प्राप्त करने की भी पूर्ण सुविधाएं बड़े शिक्षा-केन्द्रों तक में पर्याप्त मात्रा में नहीं हैं। भारतीय विश्वविद्यालय अभी वास्तव में प्रादेशिक शिक्षा-संस्थाएं हैं जिनका प्रधान उद्देश्य बी. ए. तथा एम. ए. तक की शिक्षा देना तथा परीक्षा लेना है।

ज्ञान की सीमाओं का बढ़ाना हमारे विश्वविद्यालयों में प्रमुख ध्येय अभी नहीं समझा जाता है और यदि सिद्धान्त की दृष्टि से समझा भी जाता है तो अभी व्यवहार में वह परिणत नहीं हो सका है। पुस्तकों आदि के फ़ोटो ले सकना, इन फ़ोटो-प्रतिलिपियों का आसानी से सुलभ हो सकना आदि साधारण बातों के सुभीते भी अभी अपने विश्वविद्यालयों, पुस्तकालयों तथा संग्रहालयों में नहीं हैं। प्रतिलिपि करने वाले, टाइप करने वाले, वैज्ञानिक सूचियां तैयार कर देने वाले सहायकों का तो अभी नितान्त अभाव है। यही कारण है कि खोज रूपी भवन के निर्माण करने वाले को अपने देश में मजदूर, राज, बढ़ई, लुहार, इंजीनियर आदि समस्त व्यक्तियों का कार्य अकेले करना पड़ता है। इस प्रकार समय तथा शक्ति का कितना अपव्यय होता है उसका अनुमान लगाया जा सकता है।

भिन्न-भिन्न केन्द्रों में जो खोज-कार्य हो रहा है अथवा हो चुका है, उसकी जानकारी प्राप्त करने के साधन भी अपर्याप्त हैं। कोई ऐसे जर्नल नहीं हैं जिनमें नियमित रूप से इस प्रकार की सूचनाएँ प्रकाशित होती हों। पृथक्-पृथक् विषयों की खोज के सम्बन्ध में कोई वार्षिक, त्रैवार्षिक अथवा पंचवार्षिक विवरण भी प्रकाशित नहीं होते। अधिकांश थीसिस अप्रकाशित रूप में ही रजिस्ट्रारों के दफ़्तरों में पड़े हैं। शायद बहुत से लुप्त भी हो गए हों तो आश्चर्य नहीं। विश्वविद्यालयों में थीसिस के मुद्रण तथा प्रकाशन के सम्बन्ध में कोई भी सुभीते प्रायः नहीं हैं। अधिकांश विश्वविद्यालयों के पास अपने प्रेस तथा जर्नल भी नहीं हैं। खोज के लिए यात्रा-सम्बन्धी व्यय के लिए प्रबन्ध भी अपर्याप्त हैं। रिसर्च फ़ेलोशिप भी विश्वविद्यालयों में अत्यन्त अपर्याप्त हैं। केवल रिसर्च करने तथा कराने वाले प्रोफ़ेसरों की कल्पना भी अभी नहीं है। प्रोफ़ेसर का अर्थ अभी इन्टर कॉलेज अथवा यूनिवर्सिटी में बी. ए., एम. ए. तक पढ़ाने वाले अध्यापक से है।

यों हिन्दी में खोज का क्षेत्र असीम है। यह क्षेत्र आसानी से तीन भागों में बांटा जा सकता है—(१) हिन्दी भाषा, (२) हिन्दी साहित्य तथा

(३) हिन्दी संस्कृति। भाषा-सम्बन्धी खोज की दो प्रधान धाराएँ होसकती हैं—साहित्य में प्रयुक्त भाषा-सम्बन्धी खोज तथा जनता की मौखिक बोलियोंसे सम्बद्ध खोज। उनमें से प्रत्येकसे सम्बन्ध रखने वाली सैकड़ों खोज-सम्बन्धी समस्याएँ हैं। इसी प्रकार हिन्दी साहित्य भी दो परम्पराओं में सुरक्षित है—लिखित परम्परा तथा जनपदी मौखिक परम्परा। देश की धार्मिकतथा सामाजिक संस्कृति भी दो मुख्य भागों में विभक्त है—नागरिक तथा ग्रामीण; और उनमें से प्रत्येक में अनेक धाराएँ तथा उपधाराएँ हैं। उपर्युक्त विशाल क्षेत्र के एक कोने की भी अभी पूर्ण वैज्ञानिक जानकारी हमें प्राप्त नहीं हो सकी है। संतोष इतना ही है कि अन्वेषण का कार्य प्रारम्भ हो गया है और इसमें अग्रसर होने के लिए बहुत बड़ी संख्या में योग्य नवयुवक तैयार हैं। समुचित साधनों के अभाव में इनका पर्याप्त उपयोग अभी नहीं किया जा रहा है।

खोज से सम्बन्ध रखने वाला विद्यार्थी ज्ञान-मार्ग का पथिक होता है। भक्ति-मार्ग तथा कर्म-मार्ग से उसे दूर रहना चाहिए। सम्भव है आगे चलकर सत्य के अन्वेषण की तीन धाराएँ आपस में मिल जाती हों—कदाचित् मिल जाती हैं—किन्तु इस बात की इस ज्ञान-मार्ग-पथिक को चिन्ता नहीं होनी चाहिए। वह क्षेत्र तो असाधारण विचारक आचार्यों का है। मनुष्य की ज्ञान सम्बन्धी समस्त खोजों का चरम लक्ष्य सबसे बड़े अज्ञात सत्य का अन्वेषण करना है। ज्ञान सम्बन्धी छोटी से छोटी खोज इसी चरम लक्ष्य की ओर संकेत करती है और उसके निकट पहुँचाने में सहायक होती है।

हिन्दी में शोध-कार्य

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
डी. लिट्,
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
काशी विश्वविद्यालय

शोध का विस्तार—इन दिनों हिन्दी में कई विश्वविद्यालय शोध-कार्य करा रहे हैं। जहां तक मुझे मालूम है, निम्नलिखित विश्वविद्यालय इस कार्य में संलग्न हैं—

१. कलकत्ता	८. आगरा
२. विश्वभारती	९. अलीगढ़
३. पटना	१०. राजस्थान
४. बिहार	११. सागर
५. काशी	१२. नागपुर
६. लखनऊ	१३. दिल्ली
७. प्रयाग	१४. पंजाब

मैं ठीक नहीं कह सकता कि इनके अतिरिक्त कोई और विश्वविद्यालय हिन्दी में शोध-कार्य करा रहा है या नहीं। सम्भावना यही है कि और भी एक या दो विश्वविद्यालय और होंगे जो यह कार्य करा रहे

होंगे। परन्तु ज्ञात तथ्यों के आधार पर ही विवेचना करना उचित है। इसलिये सम्भावनाओं की बात छोड़कर ही हम सोचने का प्रयत्न करेंगे। कई विश्वविद्यालयों में यह कार्य काफ़ी समय से हो रहा है। हिन्दी के सबसे प्रथम डाक्टर काशी विश्वविद्यालय से निकले थे। प्रयाग विश्वविद्यालय शोध-कार्य में काफ़ी समय से और तत्परता के साथ लगा है। बाकी विश्वविद्यालयों में कार्य नया ही शुरू हुआ है फिर भी यह स्वीकार कर लेने में कोई विशेष बाधा नहीं कि पिछले ८ या १० वर्षों से इस कार्य में विशेष तेजी आई है। आगरा, राजपूताना, प्रयाग, लखनऊ, बनारस आदि विश्वविद्यालयों में शोधार्थी-संख्या काफ़ी बड़ी है। यदि हम मान लें प्रत्येक विश्वविद्यालय औसत ५ विषयों पर शोध करा रहा है और यह कार्य ८ वर्षों से चल रहा है तो बहुत अधिक नहीं कहा जायगा। इस हिसाब से हिन्दी में अब तक ८×५×१४=५६० विषय शोध के लिए स्वीकृत हो चुके हैं। यदि वास्तविक संख्या इसके आधी भी हो तो २८० विषय अब तक रजिस्टर्ड हो चुके हैं। कहना व्यर्थ है कि २८० विषयों में से अधिकांश नाना नामों और आकारों में—और कभी-कभी एक ही नाम रूप में भी—पिष्ट-पेषण हैं। इसी को 'डुप्लिकेशन वर्क' कहा जाता है। प्रवीण अध्यापकों और शोधार्थियों के लिए यह पर्याप्त दुश्चिन्तता का कारण बना हुआ है। आगामी पाँच वर्षों में यह समस्या और भी जटिल होगी। शोधार्थी प्रायः पूछते हैं कि कोई विषय बताइए। कुछ दिन काम करने के बाद प्रायः ही यह पता लगता है कि अन्य किसी विश्वविद्यालय में इसी विषय पर कार्य हो रहा है। कभी इस प्रकार के दुःसंवाद से शोधार्थी और निर्देशक दोनों ही हड़बड़ी में काम जल्दी समाप्त करने की फिकर में लग जाते हैं। नाना दृष्टियों से यह विस्तार दुश्चिन्ता का कारण बना हुआ है। शोध-कार्य के स्तर के गिरने में भी यह विस्तार प्रत्यक्ष या परोक्ष भाव सेदायी हो रहा है। परन्तु विस्तार के घटने के लक्षण नहीं दिखाई देते। या तो विस्तार घटे या दुश्चिन्ता। दोनों में से किसी एक को घटना ही चाहिए।

दुश्चिचन्ता का ही घटना सम्भव है, वही श्रेयस्कर भी है—भारतवर्ष में शिक्षा की मात्रा बहुत कम है निरन्तर वह बढ़ेगी, नये-नये विश्वविद्यालय स्थापित होंगे। भारतीय मनीषा जिस रास्ते सोचने लगी है उसमें विश्वविद्यालयों में शोधवर्ग पर अधिकाधिक बल दिए जाने की ही सम्भावना है। हिन्दी समूचे देश में पढ़ी जायगी और गैर हिन्दी भाषी प्रान्तों के विश्वविद्यालयों में भी वह शोध-कार्य के लिए स्वीकृत विषय बनेगी। इस प्रकार इस ३६ करोड़ आदमियों के देश में, जहाँ उच्चतर शिक्षा निरन्तर बढ़ती पर है और उसके लिए रचनात्मक कार्य को आदर्श रूप में स्वीकार करने की प्रवृत्ति जड़ पकड़ती जा रही है, शोध-कार्य का विस्तार बढ़ेगा ही। विस्तार को हम पसन्द करें या न करें, वह बढ़ेगा। आगामी २० वर्षों में कोई २८० विषय शोध के लिए चुने जायेंगे। इसलिए मेरा प्रस्ताव है कि हम विस्तार कम करने के रास्ते न सोचें। घड़ी की गति पीछे फिराने से कोई लाभ भी नहीं है। दुश्चिन्ता ही कम की जाय।

संसार के न जाने कितने विश्वविद्यालय अंग्रेज़ी में शोध-कार्य करा रहे हैं। जहाँ तक मुझे मालूम है, अब तक अंग्रेज़ी भाषा के अध्यापकों ने ऐसी कोई दुश्चिन्ता नहीं प्रकट की। शेक्सपियर पर न जाने कितने निबन्ध लिखे गए हैं और लिखे जायेंगे। इसलिए एक ही विषय के दुबारा-तिबारा लिखे जाने की प्रथा कोई नई नहीं है। उससे चिन्तित होने की भी कोई बात नहीं। चिन्तित होने की बात है पिष्ट-पेषण। अर्थात् कोई नई बात न कहकर उन्हीं पिटी-पिटाई बातों को दुहराते जाना। एक ही विषय को यदि दो व्यक्ति ईमानदारी के साथ और थोड़ी प्रतिभा के साथ प्रतिपादन करें तो दोनों में अन्तर आ जायगा। विभिन्न कालों में भी अन्तर आयगा। तुलसीदास, कबीरदास, सूरदास आदि कवि और इनकी रचनाएँ स्वाधीन विचारकों को सदा नई सामग्री देती रहेंगी। इसलिए विषय के दुहराए जाने से चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है,

शोधार्थी यदि समझता हो कि पूर्वाधीन विषय पर भी वह कुछ नई बात कहने की हिम्मत रखता है तो उसे अवसर दिया जाना चाहिए।

हिन्दी में क्या सचमुच विषय दारिद्र्य है—यह एक साधारण शिकायत है कि हिन्दी में विषय नहीं मिल रहे हैं। मेरी धारणा ऐसी नहीं है आसान बात यह है कि अधिकांश शोधार्थी सच्ची शोध-लालसा से प्रेरित होकर इस क्षेत्र में नहीं आते। एम. ए. की पढ़ाई में शोध-कार्य का कोई ज्ञान नहीं होता। अधिकांश एम. ए. पास विद्यार्थी आकर ग्रन्थों के संकलित अंशों से अधिक का ज्ञान नहीं रखते। मैंने कई एम. ए. पास विद्यार्थियों से पूछा कि उन्होंने पूरा पृथ्वीराज रासो ग्रन्थ कहीं देखा है या नहीं। उत्तर में नहीं ही सुनने को मिला। अधिकांश एम. ए. उत्तीर्ण विद्वान् (विद्यार्थी उन्हें कैसे कहूँ!) नहीं जानते कि हिन्दी साहित्य का इतिहास किन रिपोर्टों पर आधारित है और उन रिपोर्टों का दर्शन तो बहुत थोड़े लोगों को हो पाता है। शोध-लालसा भीतर से उत्पन्न होनी चाहिए। जब तक अपने विषय पर सचमुच पूर्ण अधिकार नहीं हो जाता तब तक शोध-कार्य नहीं किया जा सकता। यदि शोधार्थी विषय की खोज में भटकता है तो मुझे तो ऐसा ही लगता है कि शोध-कार्य में वह किसी अन्य प्रलोभनवश लगना चाहता है। या तो उसे मालूम हो गया है कि विद्यालयों में नौकरी पाने के लिए शोध-उपाधियों की जरूरत है या उसे कहीं से यह खबर मिल गई है कि शोध-उपाधि के हाथ लग जाने पर उसके वेतन में वृद्धि हो जायगी। दोनों ही जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक बातें हैं। मैं इसकी चर्चा उपहास के लिए नहीं कर रहा हूँ। विश्वविद्यालयीय शिक्षा पर विचार करने वाला इस बात को छोड़ नहीं सकता। इस पर भी अवश्य विचार किया जाना चाहिए। प्रतिवर्ष में अपने विश्वविद्यालय में कम-से-कम सौ हिन्दी के मास्टर ऑफ़ आर्ट्स की योग्यता की संस्तुति करता हूँ। मुश्किल से पाँच-सात के बारे में मैं निश्चिन्त हो पाता हूँ। बाकी कहाँ गए, क्या कर रहे हैं, साहित्य की पढ़ाई का सदुपयोग या

दुरुपयोग कर रहे हैं, मुझे कुछ भी नहीं मालूम। यह कैसी अध्यापकी है? मैं विश्वविद्यालय की शिक्षा पर विचार करते समय इस दारुण अन्तर्वैमत्य की बात कहे बिना रह नहीं सकता। इसलिए मैं जब शोध-कार्य के साथ गुंथे हुए जीविका-प्रश्न की बात उठाता हूँ तो मेरा अभि-प्राय उपहास करना नहीं है। मैं जानता हूँ कि उपहास करने वाले भी कम नहीं हैं। वे लोग सभी प्रश्नों को मनुष्य के वास्तविक जीवन से नोचकर हथेली पर रखकर देखना चाहते हैं। मैं उनको नमस्य मान लूँ यह और बात है पर उनका यहाँ अनुसरण करने में अपने को असमर्थ देखता हूँ। अस्तु।

तो, मूल बात यह है कि शोध-कार्य केवल शोधार्थी की आन्तरिक लालसा से नहीं चल रहा है। इसे जिज्ञासा से भिन्न कोटि की ज़रूरतें चालित कर रही हैं। समस्या का सबसे विकट रूप यहीं से उत्पन्न होता है। अधिकांश शोधार्थी यदि उपाधि प्राप्त करने का कोई दूसरा तरीक़ा खोज सकें तो पढ़ने-लिखने के झमेले में नहीं पड़ेंगे। मेरा अनुभव है कि दूसरे तरीके की तलाश भी चलती रहती है इस प्रकार के शोधार्थी यदि कोई ऐसा विषय ढूँढ़ें जो सहज-साध्य हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पिछले पचास वर्षों के लघु-परिसर साहित्य में जो शोधार्थियों की इतनी भीड़ है उसका कारण यही है। नहीं तो हिन्दी में अभी शोध-कार्य बिलकुल बाल्यावस्था में ही समझना चाहिए। आरम्भिक हिन्दी भाषा और साहित्य पर कोई उल्लेख योग्य कार्य नहीं हुआ है, शोध-रिपोर्टों में जिन सामग्रियों की नोटिस ली गई है वही जब अभी तक अनुद्घाटित है तो फिर ग्रन्थ-भण्डारों में सुरक्षित सामग्री की तो बात ही छोड़ देनी चाहिए। हजारों मील के विस्तृत क्षेत्र में बोली जाने वाली बोलियों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन तो दूर की बात है उनके मुहावरों, गीतों, शब्द-भण्डारों, लोक-कथानकों का वैज्ञानिक अध्ययन भी पड़ा ही हुआ है। महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के संपादन पर उपाधि देने की प्रथा अभी हमारे विश्वविद्यालयों में आरम्भ नहीं हुई। संभवतः एकमात्र बम्बई

विश्वविद्यालय इस ओर सचेष्ट है। मध्यकालीन धर्म-साधना और साहित्य के अध्ययन के लिए मठों और मंदिरों में जो साहित्य पड़ा हुआ है वह भी प्रकाश में नहीं आ पाया है फिर जिन सम्प्रदायों का प्रभाव अनेक प्रादेशिक भाषाओं पर रहा है उनके साहित्य का अध्ययन तो अभी सोचा ही नहीं गया। यह तो केवल अनुद्घाटित तथ्यों के उद्घाटन की बात हुई। विश्वविद्यालय शोधार्थी से यह भी आशा रखते हैं कि वह व्याख्यात मन्तव्यों की नई व्याख्या भी करें। यह क्षेत्र तो सच्चे अर्थों में असीम है। इसलिए विषय-दारिद्रय् केवल बात की बात है। काम करने योग्य विषयों की बिलकुल कमी नहीं है। भीतर से कुछ नया देने की उमंग होनी चाहिए। जीविका वाले प्रश्नों को अन्य उपायों से हल करने का प्रयत्न चलना चाहिए। यह क्षेत्र संपूर्ण रूप से ज्ञान-साधना का क्षेत्र होना चाहिए। ऐसा अगर किया जा सका तो विषय-दारिद्रय् का प्रश्न कभी नहीं उठेगा।

शोध-उपाधियों का उद्देश्य क्या है?—हमारे विश्वविद्यालयों ने अभी तक द्विमुख कर्तव्य स्वीकार किए हैं। विद्यार्थियों की शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं में शोध। प्रधानतः ये विश्वविद्यालय शिक्षण संस्था का कार्य करते हैं। इनका काम है भावी नागरिकों को चरित्रवान बनाने और ईमानदारी के साथ जीवन-संघर्षों में विजयी बनाने योग्य शिक्षा का वितरण। कुछ विचारक मानते हैं कि शोध-कार्य भी इसी उद्देश्य का एक अंग है। शोधार्थी वस्तुतः भावी जीवन-संघर्ष में ईमानदारी के साथ विजयी होने की शिक्षा ही प्राप्त करता है। एम. ए. करने के बाद यदि किसी विद्यार्थी को दो वर्ष और किसी विषय की विशेषज्ञता प्राप्त करने की सुविधा दी जाती है तो वस्तुतः यह भी एक प्रकार की तैयारी ही है। इस समय उसे वह आवश्यक वैज्ञानिक शिक्षा मिलती है जो भावी जीवन में उसे ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में ऐसी बातों को खोज निकालने में सहायक होगी जिससे समूची मनुष्य जाति उपकृत होगी। इसीलिए

शोध-उपाधियाँ वस्तुतः वैज्ञानिक पद्धति की शिक्षा मिलने का प्रमाण पत्र हैं। ये ज्ञान-साधना का साधन है, सिद्धि नहीं। ऐसे विचारक पी-एच. डी. के निबन्ध की परीक्षा इस दृष्टि से करने के पक्षपाती हैं कि उपाधि कामी को शोध-कार्य की वैज्ञानिक शिक्षा मिल पाई है या नहीं। किन्तु दूसरे विचारक इन उपाधियों को ज्ञान-साधना के अग्र-सर करने का प्रमाणपत्र मानते हैं। वे शोध-उपाधियों के लिए शोधार्थी का निश्चित साहित्यिक दान (कंट्रीब्यूशन) आवश्यक मानते हैं। उनके मत से ये उपाधियाँ केवल वैज्ञानिक पद्धति की जानकारी मात्र की सूचक नहीं हैं बल्कि ज्ञान-क्षेत्र में नवीन बातों को देने की सामर्थ्य की स्वीकृति हैं। सुना है, यूरोप के कई देशों के विश्वविद्यालय प्रथम श्रेणी के हैं। परन्तु हमारे देश में दूसरी बात पर अधिक बल दिया जाता है।

मुझे ऐसा लगता है कि शोध-उपाधियों के लिए दोनों बातें आवश्यक हैं। मैं कुछ जोर देकर ही कहना चाहता हूँ कि शोध-कार्य केवल तथ्यों का निर्जीव पुलिन्दा नहीं होना चाहिए। उसमें रचनात्मक प्रतिभा का स्पर्श होना बहुत आवश्यक है। निस्सन्देह वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण होना चाहिए और वैज्ञानिक पद्धति का मूलमन्त्र है परिणामों के प्रति अनासक्ति। लेकिन सच्चाई सब क्षेत्रों में वाञ्छनीय है और सच्चाई हमेशा मानवीय होती है। हम ऐसी सच्चाई का कुछ भी ज्ञान नहीं रखते जो मानवीय धारणाओं से अस्पृष्ट और मानवीय मूल्यों से अनासक्त हो। परिणामों के प्रति अनासक्ति का यह अर्थ नहीं है कि उन परिणामों को शुष्क और प्रवाहहीन भाषा में रख दिया जाय। इस बात का आग्रह नहीं होना चाहिए कि पूर्व निर्णीत मन्तव्य ही प्रमाणों द्वारा पुष्ट किया जाय। परन्तु एक बार वैज्ञानिक अनासक्ति द्वारा जो परिणाम निश्चित हुए उन्हें सरस और प्रवाहमयी भाषा में रखने से ही वह लेखक और पाठक के अपने 'सत्य' के रूप में गृहीत हो सकते हैं।

मूलभूत (बेसिक) भाषाओं की जानकारी भी आवश्यक है—हिन्दी साहित्य को दो मोटे विभागों में बाँट लिया जा सकता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के पहले का साहित्य पूर्ववर्ती भाषाओं की साहित्यिक परम्परा से दृढ़ भाव से सम्बद्ध है। उसका अध्ययन संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य की जानकारी के बिना नहीं हो सकता। कभी कभी फ़ारसी भाषा और उसकी साहित्यिक परम्पराओं का ज्ञान भी अपेक्षित होता है। उन्नीसवीं शताब्दी में भी भारतीय परम्परा पूर्ण रूप से जीवित रही। परन्तु वहाँ से नई भावधारा का भी प्रारम्भ हुआ। इसके बाद के साहित्य के लिए अंग्रेज़ी साहित्य, उसकी परम्पराएँ और रूढ़ियाँ आवश्यक हो जाती हैं। परन्तु संस्कृत यहाँ भी सहायक है क्योंकि प्रत्येक नव जागरण के समय और प्रत्येक अभिनव उत्थान के समय संस्कृत का कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है। इस दूसरे हिस्से के लिए भी संस्कृत का ज्ञान आवश्यक है। कुछ विश्वविद्यालय शोध-कार्य के लिए फ्रेंच या जर्मन भाषा की जानकारी को आवश्यक मानते हैं। जब तक शोधार्थी इन भाषाओं में से किसी एक का ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता तब तक उसे उपाधि नहीं दी जाती। हिन्दी के लिए यदि संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का ज्ञान आवश्यक कर दिया जाय तो अनुचित नहीं होगा। कम से कम पुराने साहित्य के शोधार्थी के लिए तो संस्कृत और अपभ्रंश अनिवार्य कर देना ही उचित है। वस्तुतः प्राचीन साहित्य के विद्यार्थी को किसी-न-किसी प्रकार संस्कृत-परम्परा का ज्ञान प्राप्त करना अपने आप आवश्यक हो जाता है। अनिवार्यता से उसका उपकार ही होगा।

शोध-कार्य भविष्य में अधिक गम्भीर और सम्भव होगा। इस विषय में मुझे कोई संदेह नहीं है। इसकी वर्तमान अवस्था से चिन्तित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके स्तर को ऊँचे उठाना और इसकी उपयोगिता बढ़ाना अधिकांश हम लोगों के हाथ में है।

४

अनुसन्धान का स्वरूप और उसके विविध क्षेत्र

प्रो० गुलाबराय, एम. ए.

वैज्ञानिक और साहित्यिक अनुसन्धान—अनुसन्धान एक व्यापक शब्द है। अनुसन्धान वैज्ञानिक विषयों का भी होता है और साहित्यिक विषयों का भी किन्तु दोनों की पद्धति और उनके स्वरूप में विशेष अन्तर नहीं है। अन्तर यदि है तो विषय की आवश्यकताओं और प्रयोग-पद्धतियों का। दोनों में ही सूक्ष्म और सोद्देश्य निरीक्षण के साथ परीक्षण और प्रयोग के पश्चात् गम्भीर विवेचन रहता है जिसमें विपक्षीय घटनाओं, उदाहरणों और विचार-बिन्दुओं का उतना ही स्वागतपूर्ण विवेचन होता है जितना कि सपक्षीय घटनाओं उदाहरणों तथा विचार-बिन्दुओं का। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक अनुसन्धान की भाँति ही साहित्यिक अनुसन्धान में नवार्जित ज्ञान की पूर्वार्जित ज्ञान के आलोक में व्याख्या करके संगति बैठाई जाती है। विषय चाहे जो कुछ हो उसके विवेचन में निष्पक्ष वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग उसको स्वरूपता प्रदान कर उसके नाम को सार्थक करता है। जिस प्रकार मनुष्य का क्रिया-कलाप और चरित्र उसके स्वभाव और स्वरूप का

परिचायक होता है, उसी प्रकार अनुसन्धान की पद्धति ही उसके स्वरूप और क्षेत्र के निर्णय में सहायक हो सकती है। इसी दृष्टि से हम अनुसन्धान की पद्धति पर विचार करेंगे।

ज्ञात से अज्ञात—अनुसन्धान चाहे जिस प्रकार का हो हमारे ज्ञान में वृद्धि करता है। यह ज्ञान सुसम्बद्ध और हमारे पूर्वार्जित ज्ञान पर आधारित होता है। जहाँ आधारित नहीं होता है वह पूर्वार्जित ज्ञान को भी संशोधनीय और परिमार्जनीय प्रमाणित कर देता है। इसलिए प्रत्येक अनुसन्धानकर्त्ता को अपने अनुसन्धान-कार्य की सार्थकता बतलाने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसके अनुसन्धान से ज्ञान-क्षेत्र कहाँ तक विस्तृत हुआ या उस पर क्या नया प्रकाश पड़ा ?

निरीक्षण—अनुसन्धान केवल कल्पना प्रसूत बहुत कम होता है यद्यपि उसमें चाहे वह वैज्ञानिक हो और चाहे साहित्यिक, कल्पना के बिना काम नहीं चलता। यह कल्पना निराधार नहीं होती बल्कि सूक्ष्म वैज्ञानिक निरीक्षण पर अवलंबित होती है। आकस्मिक निरीक्षण से सुझाव अवश्य मिल जाते हैं किन्तु वे निरीक्षण और परीक्षण की आँच में तपाये बिना कोई मूल्य नहीं रखते। न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण वाले नियम का श्रीगणेश चाहे फल के पतन से हुआ था किन्तु उसकी इति श्री सहज में नहीं हुई थी। मैं तो कहूँगा कि गुरुत्वाकर्षण की समस्या ज्ञात या अज्ञात रूप से मन में वर्तमान थी। भाग्यवान् लोगों को साहित्य या विज्ञान के क्षेत्र में आकस्मिक निरीक्षण से कुछ सुझाव अवश्य मिल जाय, 'कथा सु सुनी सूकर-खेत' से चाहे तुलसीदास जी की जन्मभूमि के सम्बन्ध में सोरों का ध्यान गया हो किन्तु उसके वैज्ञानिक अनुसन्धान का अभी श्रीगणेश ही हो रहा है। अनुसन्धान चाहे जिस विषय का हो एक लक्ष्य और उद्देश्य के साथ होना चाहिए। वैज्ञानिक अनुसन्धानकर्त्ता के लिए भटकने की गुंजाइश नहीं रहती यदि वह किसी ग्रन्थ की ऐतिहासिकता की खोज कर रहा है तो न तो उसे जाति-प्रेम और भाषा-प्रेम विचलित करेगा और न उसके काव्य-सौन्दर्य की ओर मन भटकेगा। [illegible]

काव्य-सौन्दर्य की ओर मन भटकना ऐसी ही दूषित मनोवृत्ति का परिचायक होगा जैसा कि किसी डाक्टर का किसी रमणी रोगिणी के सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाना। अनुसन्धानकर्त्ता को निर्भयता से काम लेने की आवश्यकता रहती है किन्तु वह निर्भयता कर्त्तव्य-शून्य न होनी चाहिए।

यन्त्र—वैज्ञानिक निरीक्षण में यन्त्रों आदि से काम लेना पड़ता है। साहित्यिक निरीक्षण में वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता उस मात्रा में तो अपेक्षित नहीं होती जितनी कि वैज्ञानिक अनुसन्धान में, किन्तु उसका सर्वथा अभाव भी नहीं रहता है। किसी हस्तलिखित ग्रन्थ की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता सिद्ध करने और काल-निर्णय के लिए उस पर लिखी हुई तिथि और संवत् पर ही निर्भर नहीं रहना पड़ता है वरन् उसके कागज और स्याही का भी वैज्ञानिक परीक्षण करना पड़ता है। इसके साथ उसको भाषा-विज्ञान और व्याकरण सम्बन्धी जाँच भी करनी होती है। कब कैसी भाषा और शब्दों का प्रयोग होता था? इसमें कवियों की स्वच्छन्दता को भी किसी-न-किसी मात्रा में छूट देनी पड़ती है। वैज्ञानिक निरीक्षण का अर्थ केवल इतना ही नहीं कि सूक्ष्म-वीक्षण यन्त्र का ही प्रयोग किया जाय वरन् यह कि अनुसन्धान में वही बावन तोले पाव रत्ती की यथार्थता अपेक्षित होती है जो विज्ञान में।

कल्पना—साहित्यिक अनुसन्धान में भी एक ही घटना और वस्तु के सम्बन्ध में विविध कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं और उन कल्पनाओं का घटनाओं और तथ्यों के आलोक में मूल्य निर्धारित करना होता है।

परीक्षण—जिस प्रकार विज्ञान में असम्बद्ध एकाकी घटनाओं का कोई मूल्य नहीं उसी प्रकार साहित्यिक अनुसन्धान में किसी एक बात पर ही किसी निर्णय को आधारित नहीं कर सकते। तुलसीदास जी अद्वैतवादी थे या विशिष्टाद्वैतवादी थे इस बात के निर्णय के लिए न उनके सम्प्रदाय के ज्ञान से काम चलेगा और न ही एक स्फुट उद्धरण देने से। उसके लिए उनके सारे ग्रन्थों की खोज करनी होगी, फिर भी

सम्भव है कि हम को एकपक्षीय उत्तर न मिल सके। यदि हम उनको समन्वयवादी कहते हैं तब भी यह बतलाना पड़ेगा कि किन-किन तत्त्वों का किस भाषा में समन्वय किया गया है।

यद्यपि साहित्य में नाप-जोख कम होती है तब भी उसमें यथार्थता और बावन तोले पाव रत्ती तक पहुँचने की वैज्ञानिक वृत्ति का मान होता है। सन्-संवतों के निर्णय में जितनी यथार्थता आ सके उतनी ही स्तुत्य समझी जाती है। उसमें इतिहास, ज्योतिष, शिलालेख तथा अन्य सभी साहित्यिक और असाहित्यिक सामग्री का आश्रय लिया जाता है। अनुसन्धान जनश्रुतियों की भी उपेक्षा नहीं करता है किन्तु उनकी उचित परीक्षा के बिना उनको किसी निर्णय की आधार-शिला का रूप नहीं दिया जाता। परीक्षा के भी नियम होते हैं। उसमें सिफ़ारिश को स्थान नहीं मिलता। बहुत सी जनश्रुतियाँ पंडितों की चर्चा और जनता की स्थानीय अभिलाषाओं से अनुरंजित हो जाती हैं। उनमें यथासम्भव अतिरंजित या अनुरंजित अंश को पृथक् कर देना पड़ता है।

अपनी कल्पनाओं का परीक्षण, चाहे वे भाषा विज्ञान की हों, चाहे वे इतिहास सम्बन्धी, वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए आवश्यक होता है। जैसे ग्रियर्सन ने अन्तरंग और बहिरंग भाषाओं की कल्पना की। अब उसमें यह देखना आवश्यक है कि जो व्यावर्तक गुण उन्होंने बहिरंग भाषाओं के बतलाए हैं वे अन्तरंग में मिलते हैं या नहीं? यदि मिलते हैं तो उनकी कुछ व्याख्या हो सकती है या नहीं? विपरीत उदाहरणों का भी उतना ही मान होना चाहिए जितना कि अनुकूल का। यही सच्ची परीक्षा है।

व्याख्या—यह अन्तिम श्रेणी है। अनुसन्धान में जो नये तथ्य मिलते हैं उनसे जाने हुए तथ्यों से पुरानी घटनाओं की व्याख्या में बाधा तो नहीं पड़ती है? यदि बाधा पड़ती है तो हमको अपने तथ्यों की जाँच-पड़ताल करनी पड़ेगी। अनुसन्धानकर्त्ता को विफलताओं से विचलित नहीं होना चाहिए और न किसी प्रकार के परिश्रम से मुँह

मोड़ना चाहिए। जब तक नये ज्ञान की पुराने ज्ञान से संगति न बैठ जाय और जब तक नये की पुराने के आलोक में सार्थकता न प्रकट हो जाय तब तक अनुसन्धानकर्त्ता को चैन न लेना चाहिए। हमको पुराने का ही मोह नहीं है। या तो हमारा नया ज्ञान इतना युक्ति-युक्त और प्रबल होना चाहिए कि पुराने में संशोधन की आवश्यकता हो जाय या उसको पुराने से संगति प्राप्त करना चाहिए। सच्चे ज्ञान में प्रसंगति के लिए स्थान नहीं। हमारा यह उद्देश्य होना चाहिए कि हमारा ज्ञान-सूत्र अधिक से अधिक व्यापक हो और उससे अधिक से अधिक बातों की व्याख्या हो।

स्वरूप—इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुसन्धान-कार्य में सोद्देश्य निरीक्षण के साथ संयत कल्पना, परीक्षण और व्याख्या की आवश्यकता है। उससे एक विशेष ईमानदारी और गाम्भीर्य अपेक्षित रहता है। पद्धति के इस विवेचन से अनुसन्धान के स्वरूप पर भी प्रकाश पड़ जाता है। अनुसन्धान किसी विषय का ऐसा सांगोपांग अनुशीलन या अध्ययन है जिसमें सोद्देश्य-निरीक्षण के साथ संगति स्थापन और व्याख्या के कार्य को भी मुख्यता दी जाती है। अब हम अनुसन्धान-कार्य के कुछ रूपों को लेकर—उनसे इस स्वरूप की पुष्टि करेंगे।

आलोचना और अनुसन्धान—यद्यपि आलोचना और अनुसन्धान की सीमा-रेखाएँ कहीं-कहीं मिल जाती हैं तथापि आलोचना और अनुसन्धान में थोड़ा अन्तर है। आलोचना का क्षेत्र व्यापक होता हुआ भी सीमित रहता है। उसमें वह तत्परता और साधना का भाव नहीं आता जो अनुसन्धान में होता है। अनुसन्धानकर्त्ता दूसरों की ही नहीं अपनी भी आलोचना करता है। अनुसन्धानकर्त्ता दूसरों के कार्य से भी लाभ उठाता है। वह अपने ज्ञान को यथासम्भव पूर्ण बनाना चाहता है। कहीं-कहीं आलोचना भी अनुसन्धान का रूप धारण कर लेती है किन्तु तभी जब कि उसमें नवीन ज्ञान, नवीन सामग्री और नवीन दिशाओं की खोज और तत्परता शामिल हो जाय। केवल आलोचक की दृष्टि प्रत्यक्ष पर अधिक

रहती है। अनुसन्धानकर्त्ता का लक्ष्य प्रत्यक्ष के विवेचन से अप्रत्यक्ष की ओर जाना अधिक रहता है।

प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज—यह अनुसन्धान का एक रूप है। इसमें बहुत कुछ कार्य यान्त्रिक है और बहुत कुछ वास्तविक अनुसन्धान का। प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों की तालिका बना लेना, उनकी पृष्ठ संख्या या छन्द संख्या बतला देना और पुष्पिका की प्रतिलिपि कर देना ये सब कार्य परिश्रम और अध्यवसाय चाहते हैं किन्तु यान्त्रिक हैं। किसी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को प्राप्त कर लेना तभी अनुसन्धान कहलायगा जब उसके सम्बन्ध में पूरी छानबीन हो जाय। यदि यह जानी हुई पुस्तक की ही कापी है तो उसमें अन्य प्रतियों से क्या भेद है? उन भेद की बातों से कोई नया प्रकाश पड़ता है या नहीं? इन सब बातों का विवेचन करना वास्तविक अनुसन्धान का विषय है। यदि वह कोई पुराने कवि की नई पुस्तक है या किसी अनजाने हुए कवि की पुस्तक है तो उसका क्या साहित्यिक मूल्य है? वह किस समय की है? यदि पुराने और जाने हुए कवि की नई पुस्तक है तो उससे कवि के जीवन-दर्शन और विचारों पर क्या नया प्रकाश पड़ता है और वह उसकी अन्य साहित्यिक कृतियों में क्या स्थान पाती है?

पाठ-निर्णय और सम्पादन—अनुसन्धान के क्षेत्र में इस कार्य को भी महत्ता दी जाती है और वास्तव में यह महत्ता देने योग्य भी है। उसके द्वारा प्राचीन साहित्य हमारे सामने सुपाठ्य रूप में रखा जाता है। इस कार्य में भिन्न-भिन्न पाठान्तर संग्रह कर देना मात्र नहीं होता वरन् उपयुक्त पाठ का निश्चय कर देना भी होता है। उस निर्णय में तत्कालीन भाषा की स्थिति, व्याकरण, लेखक या कवि की वैयक्तिक रुचि तथा प्रतियों की प्रामाणिकता पर भी ध्यान रखना होगा। उसके अतिरिक्त अप्रसिद्ध प्रयोगों और शब्दों पर भी प्रकाश डालना होगा। कभी-कभी सम्पादन के अन्तर्गत भूमिका आदि लिखने का भी कार्य सम्मिलित हो जाता है जिससे कवि के जीवन, उसके युग और उसकी प्रतिभा की

विशेषताओं पर प्रकाश पड़े। पाठ निश्चय करने का भी कार्य हमारे यहाँ प्रायः व्यक्ति ही किया करते हैं किन्तु वास्तव में यह कार्य समितियों द्वारा किये जाने योग्य है। अभी प्राचीन ग्रन्थों के सुपाठ्य संस्करणों की बड़ी आवश्यकता है।

सारिणी-निर्माण—सारिणी बनाना भी अनुसन्धान का एक अंग माना जाता है और इस पर डिग्रियाँ भी मिलती हैं किन्तु केवल सारिणी बनाना उतना ही कम महत्त्व रखता है जितना कि जनगणना करना। गणना का कार्य तभी पूर्ण होता है जब उसमें भिन्न-भिन्न जातियों के रहन-सहन और उससे उनके स्वास्थ्य का सम्बन्ध दिखाया जाता है। उनकी शिक्षा आदि का अनुपात दिखाया जाता है। उसी प्रकार सारिणी बनाने का काम तभी सार्थक होता है जब शब्दों से लेखक की रुचि पर प्रकाश डाला जाता है और भिन्न-भिन्न समान समझने वाले शब्दों की प्रसंगानुकूल सार्थकता प्रदर्शित की जाती है। यदि नहीं होता तो केवल यान्त्रिक कार्य रह जाता है। पुस्तकों के अध्यायों और छन्दों की संख्या करना उनका नामकरण आदि ये सब यान्त्रिक कार्य हैं। बहुत सा ऐतिहासिक अनुसन्धान पेड़ गिनना ही होता है। अनुसन्धान में सामग्री का एकत्रित करना ही नहीं वरन् उसका उचित मूल्यांकन भी आवश्यक होता है।

आलोचनात्मक अनुसन्धान—यह शुद्ध रूप से साहित्यिक होता है। यह विशेष कवियों के सम्बन्ध में हो सकता है, विशेष कालों के सम्बन्ध में हो सकता है और विशेष प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में जैसे छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद आदि के और कभी-कभी साहित्याङ्गों जैसे रस अलंकारादि और साहित्यिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में हो सकता है। एक कवि के सम्बन्ध में भी कई दृष्टिकोणों से और कई पक्षों को लेकर अनुसन्धान चल सकता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है अनुसन्धान और केवल आलोचना में अन्तर है। आलोचना अनुसन्धान का एक अंग हो सकता है किन्तु अनुसन्धान में एक विशेष तत्परता और नवीन प्रकाश

डालने की प्रवृत्ति होती है। आलोचना से भी कवि की प्रतिभा पर नया प्रकाश पड़ता है। रस या अलंकारों या अन्य साहित्याङ्गों के सम्बन्ध में जो अनुसन्धान होता है उसमें उनका वर्णनमात्र नहीं होता है वरन् उन पर ऐतिहासिक और आचार्यों के तुलनात्मक अध्ययन के अतिरिक्त उन पर मनोवैज्ञानिक आलोक भी डाला जाता है। सारे साहित्य-शक्ति से उनका सम्बन्ध स्थापित होता है। यही उनकी वैज्ञानिक व्याख्या होती है। प्रवृत्तियों और साहित्यिक सिद्धान्तों में भी ऐतिहासिक विवेचन के अतिरिक्त विभिन्न आचार्यों के मतों का मूल्यांकन और उनके आन्तरिक अभिप्राय और तत्वों की खोज होती है और कभी-कभी उनको नया रूप भी दिया जाता है। नवीनता केवल नवीनता के लिए नहीं होनी चाहिए। नवीनता की भी सीमाएँ होती हैं। प्राचीन आचार्यों के शास्त्रीय सिद्धान्तों के उपस्थित करने और विवेचन में सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि अनुसन्धानकर्त्ता उनके साथ अन्याय तो नहीं कर रहा है। उनके सिद्धान्तों में अपने भावों की अपने अभीप्सित सिद्धान्तों की छाया तो नहीं देख रहा है। प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों का यथासम्भव यथातथ्य वर्णन होना चाहिए। इसके लिए गम्भीर अध्ययन अपेक्षित है। हमको आचार्यों से मतभेद प्रकट करने का पूर्ण अधिकार है। साहित्य में उन्नति इसी प्रकार हुई है। अनुसन्धानकर्त्ता को अपना मत स्पष्ट और अभ्रमात्मक भाषा में प्रकट करना चाहिए। दूसरे कवियों के जीवन-दर्शन के अध्ययन में भी अनुसन्धानकर्त्ता को पर्याप्त विषयगतता से काम लेना चाहिए।

अनुसन्धान के सम्बन्ध में यह कुछ बहुत मोटी-मोटी बातें दी गई हैं जो अनुसन्धानकर्त्ता की अपेक्षित मनोवृत्ति पर प्रकाश डाल सकेंगी।

५

आलोचना और अनुसन्धान

श्री परशुराम चतुर्वेदी

हिन्दी में 'आलोचना' शब्द आजकल साहित्यिक समालोचना के लिए प्रयुक्त होता है जो अंग्रेजी शब्द 'लिटरेरी क्रिटिसिज्म' का समानार्थक है। 'क्रिटिसिज्म' शब्द का मूल रूप ग्रीक शब्द 'क्रिटिकोस' के साथ सम्बद्ध है, जिसका अभिप्राय विवेचन करना या निर्णय देना है। साहित्यिक कृतियों की आलोचना कदाचित् उस प्राचीन काल में ही होने लगी थी जिस समय उनका प्रादुर्भाव सर्वप्रथम मौखिक रूप में हुआ था और जब उनके श्रोताओं ने उनसे प्रभावित होकर उन पर अपनी टीका-टिप्पणी आरम्भ की थी। किन्तु इसके अर्थ-विकास को अधिक प्रेरणा उस समय मिली जब इसका प्रयोग अभिनयों तथा (विशेषतः ग्रीक-जैसे देशों में वहाँ के) व्याख्यानों के सम्बन्ध में भी होने लगा। फिर क्रमशः जब एक पृथक् काव्य-शास्त्र का निर्माण हुआ तो उसके आधार पर विविध साहित्यिक कृतियों के परिचय, वर्गीकरण तथा गुण-दोष-विवेचन की एक सुव्यवस्थित परिपाटी चली, जिसके द्वारा इसे और भी प्रोत्साहन मिला और स्वयं इसके भी व्यापक सिद्धान्तों पर स्वतन्त्र विचार होने लगा। तब से आलोचना ने उधर बहुत दूर तक प्रगति की है और इससे

न केवल किसी कृति-विशेष के ही समुचित अध्ययन का प्रयत्न किया है, अपितु उनके सृजन की प्रक्रिया, उसके स्रष्टा के व्यक्तित्व तथा उसके युग एवं तत्कालीन प्रवृत्तियों के भी समझने की चेष्टा की है और इस प्रकार इसका क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है।

'आलोचना' शब्द आजकल जिस अर्थ को व्यक्त कर रहा है वह सम्भवतः पाश्चात्य देशों की ही साहित्यिक चेतना के क्रमिक विकास का परिणाम है। भारतीय साहित्यिक समीक्षा, अत्यन्त प्राचीन होती हुई भी, उससे विलक्षण है। इसके 'समीक्षा' शब्द का अभिप्राय 'अन्तर्भाष्य' तथा 'अवान्तरार्थ-विच्छेद'-मात्र ही समझा जाता रहा है तथा समीक्षकों का ध्यान प्रधानतः आलोच्य ग्रन्थों तक ही केन्द्रित रहता आया है और इसी कारण भारतीय पद्धति ने शास्त्रीयता का ही अनुसरण विशेष रूप से किया है। टीकाओं द्वारा किसी पाठ का विश्लेषण करके इसने उसके तात्पर्य का स्पष्टीकरण तथा विवेचन किया है अथवा भाष्यों के सहारे उसके मूलभूत सिद्धान्तों की कल्पना करके उन्हें अपने ढंग से निरूपित एवं प्रतिपादित करने की चेष्टा की है, जिस दशा में इसे प्रायः 'मीमांसा' का भी नाम दिया जाता रहा है। आधुनिक आलोचना की भाँति स्वतन्त्र रूप से विकसित होने का इसे अवसर नहीं मिला है और आज भी इसमें प्राचीनता की ही झलक दीखती है। इसमें जहाँ काव्य-तत्त्व के दार्शनिक अध्ययन एवं शास्त्रीय व्याख्यादि अथवा अधिक से अधिक रचना-शैलियों की परीक्षा, पर ही विशेष ध्यान दिया गया है वहाँ पाश्चात्य देशों की आलोचना क्रमशः साहित्यिक कृतियों के व्यावहारिक पक्ष को भी पूरा महत्त्व दिया है। अतएव इसका क्षेत्र जहाँ अधिकतर काव्य-शास्त्र तक ही सीमित जान पड़ता है वहाँ आलोचना का सम्पर्क आधुनिक मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान, भाषा-विज्ञान आदि के साथ भी स्थापित होता गया है और उसने अपना एक स्वतन्त्र रूप भी ग्रहण कर लिया है।

इसी प्रकार आधुनिक 'अनुसन्धान' शब्द के भी अर्थ में कुछ न कुछ

विशेषता आ गई जान पड़ती है। यह शब्द भी आजकल अधिकतर वैज्ञानिक अन्वेषण के लिए प्रयुक्त होने लगा है, जिसकी प्रक्रिया के अन्तर्गत केवल किसी वस्तु विषयक तात्त्विक चिन्तन या गवेषणा का ही समावेश नहीं रहता है, उसके सूक्ष्म निरीक्षण और विश्लेषण को भी उचित स्थान मिला करता है। इसमें उसके प्रत्येक अंश का एक-दूसरे के साथ कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करने तथा उनके संश्लेषण द्वारा किसी महत्त्वपूर्ण निश्चय तक पहुँचने की भी प्रधानता रहती है। अनुसन्धान का काम अब केवल किसी वस्तु के सम्बन्ध में पता लगाना अथवा किसी बात के मूल उत्स तक जाने का प्रयास करना-मात्र ही नहीं रह गया है, उसके बीज रूप से लेकर उसके क्रमिक विकास तक का परिचय प्राप्त करना, उसकी सजातीय वस्तुओं के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन करना तथा विभिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार उसका उचित और वास्तविक स्थान निर्धारित करना भी आज उक्त प्रक्रिया के प्रमुख अंग बन गए हैं। आज का अनुसन्धित्सु अपने कार्य में कोरी जिज्ञासा की प्रेरणा से नहीं प्रवृत्त होता और न उसकी तृप्ति-मात्र से ही वह संतुष्ट हो जाना चाहता है। वह अपने प्रयत्नों का क्षेत्र और भी विस्तृत करके अपने को एक पक्का प्रयोगवादी भी सिद्ध करना चाहता है। इस प्रकार आधुनिक अनुसन्धान-प्रणाली शास्त्रीयता की प्राचीन परिधि को लाँघकर क्रमशः ठेठ सामाजिक जीवन के अधिकाधिक सम्पर्क में भी आती जान पड़ती है। प्राचीन काल की नादानुसन्धान अथवा तत्वानुसन्धान जैसी क्रियायें जहाँ आत्मलक्षी और अभ्यांतरिक रहीं वहाँ आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धान प्रधानतः बहिर्लक्षी और पदार्थनिष्ठ बन गया है, जिस कारण इसके क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक व्यापकता लक्षित होती है।

पाश्चात्य साहित्यिक आलोचना के इतिहास से पता चलता है कि अनुसन्धान की आवश्यकता इसे प्राचीन काल से ही पड़ती आई है। ईसवी सन् के पहले वाली दो एक शताब्दियों में जब अलक्षेन्द्र की

विजयों के कारण ग्रीक राज्य के प्रसार एवं ग्रीक सभ्यता के प्रचार का कार्य बढ़ रहा था, एथेन्स से दूर वाले देशों तक में ग्रीक-साहित्य की चर्चा होने लगी और उन क्षेत्रों के विद्वानों ने इसकी ओर आकृष्ट होकर इसके समुचित अध्ययन के प्रति पूर्ण उत्साह प्रदर्शित करना आरम्भ किया। फलतः प्राचीन ग्रन्थों तथा पाण्डुलिपियों की खोज होने लगी और इस कार्य में संलग्न होकर वे लोग इस बात के अनुसन्धान में भी प्रवृत्त हुए कि अमुक रचना वस्तुतः अमुक कवि व लेखक की है भी या नहीं। कभी-कभी तो ऐसी रचनाओं के वास्तविक लेखक व कवि का ठीक पता चल जाने पर भी यह प्रश्न बना रहता था कि उनका शुद्ध और प्रामाणिक पाठ क्या रहा होगा और इस बात का निर्णय करते समय उनके शब्दों, वाक्य-खण्डों एवं वर्णन-शैली आदि तक पूरा विचार होने लग जाता था। आलोचना के साथ अनुसन्धान के सहयोग का कदाचित् यह पहला अवसर था और इतिहासकारों ने इस प्रकार की शैली को 'मूल पाठ-निर्धारण' का नाम दिया है। इस शैली ने उस समय प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन में बड़ी सहायता की और उसके द्वारा आगे के आलोचकों का मार्ग भी प्रशस्त कर दिया। परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य जो इसके द्वारा हुआ वह ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक आलोचना-शैलियों को जन्म देना था।

इन उपर्युक्त दोनों प्रणालियों को पीछे रोमीय आलोचकों ने भी अपनाया। सिसेरो के लिए यहाँ तक कहा जाता है कि उसने किसी भी लेखक या कवि की कृति को भली भाँति समझने के पूर्व उसकी युग-परम्परा, उसके वातावरण तथा परिस्थितियों का भी सम्यक् परिचय पा लेना अत्यन्त आवश्यक ठहराया था। इसी प्रकार फिर आगे चलकर इस बात की भी खोज की जाने लगी कि अमुक लेखक का किसी पहले से आती हुई विशिष्ट साहित्यिक धारा से कहाँ तक सम्बन्ध है और वह अपनी अमुक विचार-धारा अथवा वर्णन-शैली की परम्परा के लिए उसका कहाँ तक ऋणी है। मूल लेखक के देश एवं काल से परिचित

होने का अर्थ केवल इतना ही नहीं कि आलोचक को उसका कोरा ज्ञान हो जाना चाहिए। ऐतिहासिक आलोचना-शैली को महत्त्व देने वालों का यहाँ तक कहना था कि आलोचक का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने को मूल लेखक के युग एवं वातावरण में पहले रख ले और उस काल की आत्मा को भली भाँति हृदयंगम कर लेने पर ही उसे उसकी कृतियों पर कुछ कहने का साहस करना चाहिए। उसे अपने को तत्कालीन समाज एवं संस्कृति के रंग में पूर्णतः रंग लेना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार एक ओर जहाँ इन आलोचकों ने मूल लेखक की कृति को किसी युग-विशेष के मानदण्ड से परखने की चेष्टा की वहाँ दूसरी ओर उन्होंने उसे उसके पूर्ववर्त्ती युगों एवं लेखकों की ओर से प्रवाहित होती आने वाली धारा-विशेष द्वारा निर्मित भी माना। किन्तु उन दोनों की दृष्टि सदा अनुसन्धान की ही ओर लगी रही और दोनों ने ऐतिहासिक तथ्यों की खोज द्वारा अपने परिणामों को पुष्ट एवं तर्क-संगत बनाने के प्रयत्न किये।

परन्तु उक्त ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक आलोचना-पद्धतियों की प्रगति केवल वहीं तक आकर नहीं रुक गई। (आधुनिक पाश्चात्य आलोचकों ने प्रचलित वैज्ञानिक प्रणाली के आधार पर अपने अनुसन्धान के कार्य को और भी आगे बढ़ाया। उन्होंने मनोविज्ञान की सहायता से प्रमुख लेखक और कवि की मानसिक स्थिति की परीक्षा करनी आरम्भ की और इस प्रकार नवोदित उत्साह में आकर उन्होंने अपने आलोच्य साहित्यिक ग्रन्थ को मानो किसी प्रयोगशाला का-सा रूप दे दिया।) टेन ने तो इस प्रकार के उपलब्ध परिणाम को 'मनोवैज्ञानिक सत्य' तक का नाम दिया, जिसका तात्पर्य साहित्य-सम्बन्धी इतिहास के आधारों के कार्य-कारण-सम्बन्धों का विश्लेषण समझा गया और इस बात को उसने स्वरचित अंग्रेजी साहित्य के इतिहास द्वारा उदाहृत भी किया। अतएव, उसके सिद्धान्तों को तत्त्वतः स्वीकार करने वाले बहुत से लेखकों ने साहित्य के इतिहास को विकासवादी नियमों द्वारा भी परिचालित

मान लिया, जिस कारण इस वैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली तथा पूर्वागत ऐतिहासिक पद्धति के बीच सामंजस्य लक्षित होने लगा। मनोवैज्ञानिक आलोचना-पद्धति ने इधर इस बात पर भी पूरा अनुसन्धान करने की चेष्टा की है कि अमुक कृति का निर्माण उसके रचयिता ने किस प्रकार किया होगा, उन दोनों में कितनी दूरी तक का घनिष्ठ सम्बन्ध हो सकता है तथा पाठक व श्रोता को वे दोनों किस प्रकार और कहाँ तक प्रभावित करने में समर्थ कहे जा सकते हैं। फिर भी इस पद्धति को काम में लाने वाले ने ऐसा करते समय प्रस्तुत रचना की अपेक्षा उसके लेखक के मानसिक स्तरों की विविधि क्रियाओं पर ही विशेष ध्यान देना उचित समझा है।

(इसी प्रकार साहित्यिक आलोचना करते समय अनुसन्धान की सहायता लेने वालों का एक अन्य वर्ग उन लेखकों का है जो किसी रचना के मर्म को भली भाँति समझने तथा उसके अन्तर्गत उपलभ्य वैषम्य का समुचित समाधान करने के लिए उसके रचयिता के व्यक्तिगत जीवन-सम्बन्धी वृत्तान्तों से भी अवगत हो लेना आवश्यक समझते हैं। इसके अनुसार कोई भी कला-कृति और उसका कलाकार वस्तुतः एक और अभिन्न वस्तु हैं और उन्हें एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। कवि या लेखक जो कुछ भी लिखा करता है उसका उत्स कहीं-न-कहीं उसके विचारों अथवा अनुभवों में अन्तर्निहित रहता है, इस कारण यदि इन बातों का अध्ययन सावधानी के साथ किया जाय तो उन रचनाओं की विविध गुत्थियों का सुलझाना कठिन नहीं है। किसी कलाकार के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह अपने निजी जीवन की सारी बातें खोलकर आगे के लिए रख छोड़े। इसके अतिरिक्त अनेक बातें ऐसी भी होती हैं जिन्हें वह अपने निजी जीवन में कदाचित् गोपनीय भी समझा करता है। किन्तु इन सभी का पता उसकी कृतियों के भीतर किसी न-किसी प्रकार लगाया जा सकता है और इनके द्वारा उनके पूर्ण रूप से समझने में सहायता ली जा सकती है। अतएव, इस पद्धति का प्रयोग करने वालों ने कलाकारों

के जीवन-वृत्त अथवा उनके सम्बन्ध की संस्मरणात्मक रचनाओं के अध्ययन को बड़ा महत्त्व दिया है।

(आधुनिक आलोचना-प्रणाली ने इसी प्रकार अपने क्षेत्र के अन्तर्गत उन बातों का भी समावेश करने की चेष्टा की है जो हमारे दैनिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं और जो हमारे समाज के आर्थिक एवं राजनीतिक प्रश्नों पर भी आश्रित हैं।) मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार मानव-समाज एवं सभ्यता सदा परिवर्तनशील है और आर्थिक उत्पादन के साधनों की नियन्त्रणकारी सत्ता ही वस्तुतः हमारे समाज की व्यवस्था को प्रभावित किया करती है। समाज के अन्तर्गत सदा दो पृथक् वर्ग रहा करते हैं जिनमें आर्थिक वैषम्य के कारण निरन्तर संघर्ष चला करता है और इसका प्रतिबिम्ब युग-विशेष के साहित्य पर भी पड़ता है। अतएव यह आवश्यक है कि किसी साहित्यिक कृति की समुचित आलोचना करने के पहले उसके रचना-काल की आर्थिक दशा पर भी विचार कर लिया जाय। इस आलोचना-पद्धति को, इसी कारण, यथार्थवादी या प्रगतिवादी आलोचना का भी नाम दिया जाता है। इसका प्रयोग करने वालों ने खोजपूर्वक यह निर्धारित किया है कि प्राचीन काल की सामाजिक व्यवस्था में प्रभु एवं दास का सम्बन्ध प्रमुख था जिस कारण तत्कालीन कला एवं साहित्य का प्रधान उद्देश्य प्रभु श्रेणी वाले व्यक्तियों का मनोरंजन और आनन्दवर्द्धन रहा करता था। फिर इसके अनन्तर एक बार ऐसी परिस्थिति आई जिसमें जनसाधारण-वर्ग के व्यक्तियों ने राजतन्त्र के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ किया और उस युग के कवियों और लेखकों ने उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की। इसी प्रकार आधुनिक युग की विशेषता पूँजीपतियों तथा 'सर्वहारा'-वर्ग के व्यक्तियों के बीच संघर्ष में देखी जा सकती है। अतएव, सच्चे प्रगतिशील व यथार्थवादी साहित्य की परीक्षा इसी मानदण्ड के अनुसार की जा सकती है कि वह उक्त तथ्य का चित्रण करने में कहाँ तक समर्थ है। इस कार्य में असफल प्रतीत होने वाले साहित्यकारों की वृत्तियों का नाम इन समालोचकों ने प्रतिगामी

व पलायनवादी साहित्य दिया है।

इसके सिवाय नवीन वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने वाले इन आलोचकों की यह भी धारणा है कि किसी रचना के मूल पाठ का निर्धारण करते समय भी हमारा काम सिर्फ उस कृति के साधारण निरीक्षण और तुलनात्मक अध्ययन से ही नहीं चल सकता, जैसा पहले कभी प्राचीन ग्रीक साहित्य का सम्पादन करते समय हो जाया करता था। इस कार्य में हमें आधुनिक भाषा-विज्ञान से भी पूरी सहायता लेनी चाहिए और उस रचना की भाषा, शब्दावली, व्याकरण एवं लिपि आदि सम्बन्धी सभी दृष्टियों के अनुसार भी परीक्षा करनी चाहिए। प्रत्येक भाषा का एक अपना पृथक् इतिहास होता है जिस कारण बिना इस बात का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किये कि आलोच्य कृति के माध्यम का स्वरूप कब कैसा रहा होगा हम इस पर अन्तिम निर्णय नहीं दे सकते कि उसका शुद्ध एवं प्रामाणिक पाठ अमुक प्रकार का ही होगा। कहते हैं कि प्राचीन काल में महर्षि वेदव्यास ने मौखिक रूप में प्रचलित वेद-मन्त्रों को एकत्र करके उन्हें संहिताओं के रूप में वर्गीकृत कर दिया था और उनके सम्पादन का कार्य केवल इतने से ही पूरा हो गया था। परन्तु आजकल के वैज्ञानिक सम्पादक को हस्तलिखित प्रतियों के निरीक्षण और उनकी साधारण तुलना आदि से भी सन्तोष नहीं होता। वह इस प्रकार की सामग्री का पर्यालोचन भी एक विशिष्ट एवं निश्चित ढंग से ही करना चाहता है। वह उपलब्ध प्रतियों को क्रमबद्ध करता है, उनकी कालानुक्रमानुसार तालिका बनाता है, फिर उसके आधार पर प्राचीनतम आदर्श पाठ एवं प्रस्तुत पाठ में एकरूपता लाने का प्रयत्न करता है। इसके द्वारा मूल पाठ के विषय में अपना एक मत निश्चित करते हुए अन्त में उसके विवेचन की ओर भी प्रवृत्त होता है। इस प्रणाली में स्वभावतः प्रायः उन सभी सिद्धान्तों को आधार बनाकर चलना पड़ता है जो भाषा-विज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं और जो अनुसन्धान पर भी आश्रित हैं।

इस प्रकार आधुनिक आलोचकों के विभिन्न वर्गों ने अनुसन्धान की

सहायता अपनी दृष्टिविशेष द्वारा ली है और इसका प्रयोग अनेक-अनेक ढंग से करते हुए आलोचना-पद्धति में व्यापकता लाने की चेष्टा की है। आलोचना विषयक सिद्धान्तों तथा उसके इतिहास से सम्बन्ध रखने वाला साहित्य क्रमशः विशाल रूप धारण करता जा रहा है कि वह अपने ग्रन्थों की बहुलता में किसी दिन रचनात्मक साहित्य से भी होड़ करने लगेगा। फलतः इसका एक परिणाम यह भी देखने में आता है कि साधारण पाठकों का ध्यान मूल कृतियों की ओर से खिचकर उन पर किये गए विवेचनों पर ही अधिक जाने लगा है। ऐसे लोग किसी कला-कृति का अनुशीलन करने की अपेक्षा उसके निर्माणकालीन जीवन-मात्र के अध्ययन को कम महत्त्व देते नहीं जान पड़ते और उसके रचयिता को युग-विशेष की देन-मात्र स्वीकार करते हुए स्वयं उसकी देन के प्रति प्रायः उपेक्षा प्रदर्शित करने लग जाते हैं जिसके कारण उनका कार्य कभी-कभी केवल अधूरा और एकांगी बनकर ही रह जाता है। युग-विशेष की विचार-धारा अथवा उसकी प्रवृत्तियों की ओर अधिक ध्यान देने के कारण कभी-कभी हम अपने आलोच्य ग्रन्थ के कवि या लेखक के व्यक्तित्व अथवा उसकी योग्यता के प्रति भी न्याय करने में पूर्ण रूप से समर्थ नहीं हो पाते। किसी साहित्यकार का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते समय भी हमारा अनुसन्धान प्रायः इसी बात की ओर अपना लक्ष्य रखता है कि हम कृति-विशेष के रचना-समय वाली उसकी विविध मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का ही सूक्ष्म निरीक्षण करें। उनके उद्भव, विकास एवं कार्य-क्रम का ठीक-ठीक ब्यौरा उपस्थित करें और उनमें कार्य-कारण-सम्बन्ध की खोज करें। उस समय हमारी दशा ठीक उस व्यक्ति की-सी हो जाती है जिसे किसी परोसे गए भोज्य पदार्थ का स्वाद न लेकर उसकी पाक-क्रिया की जांच-मात्र ही सूझती हो।

आलोचना में प्रयुक्त की गई उक्त प्रकार की वैज्ञानिक प्रणालियां किसी आलोचक को बहुधा आवश्यकता से अधिक निष्पक्ष एवं अनासक्त भी बना देती हैं जिस कारण उनमें स्वभावतः सहृदयता उस मात्रा में

नहीं आ पाती जितनी अन्यथा अनिवार्य हो सकती है। प्रत्येक बात का विश्लेषण एवं वर्गीकरण करते जाना और उसे किसी रूखे-पदार्थ-सा ज्यों-का-त्यों रख छोड़ने का प्रयत्न केवल कोरे मस्तिष्क का व्यापार बन जाता है जो साहित्य-जैसी सरल वस्तु के सम्बन्ध में कभी उचित और उपयोगी नहीं हो सकता। जो वस्तु मानव-समाज के रागात्मक सम्बन्धों के चित्रण में भाग लेती हो उसकी आलोचना करते समय सहृदयता से काम न लेना प्रत्युत निष्पक्षता के आवेश में कभी-कभी हृदयहीनता का-सा परिचय देने लगना कभी उपयुक्त व स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता और न ऐसे व्यक्ति कभी उसके उचित मूल्यांकन में समर्थ ही हो सकते हैं। इसके सिवाय आलोचना की उक्त वैज्ञानिक प्रणालियाँ किसी आलोचक को स्वच्छन्द रूप से कार्य भी नहीं करने देतीं। वे विभिन्न वैज्ञानिक पद्धतियों का अनुसरण करती हैं जिनमें प्रायः बहुत स्पष्ट और कठोर नियमों का पालन किया जाता है। आलोचक को उनके नियंत्रण में रहने के लिए बहुधा बाध्य होना पड़ जाता है और फलतः वह विचार-स्वातन्त्र्य से सदा लाभ नहीं उठा पाता।

लगभग इसी प्रकार का परिणाम हमें उस दशा में भी देखने को मिलता है जब हम आलोचना की प्रगतिवादी अथवा तथाकथित यथार्थ-वादी पद्धति का प्रयोग किया करते हैं। इसके अनुसार किसी कलाकार की कृति कदाचित् केवल उसी रूप में आदर्श मानी जा सकती है जब उसमें जनसाधारण की आर्थिक दशा अथवा ठेठ जन-जीवन का स्पष्ट चित्रण पाया जाय, जब 'शोषितों' के प्रति पूर्ण सहानुभूति उसमें व्यक्त की जाय तथा 'शोषकों' द्वारा उन पर किये गए अत्याचारों के विरुद्ध उसमें न केवल रोष प्रकट किया जाय, अपितु उन्हें किसी कल्पित उज्ज्वल भविष्य की तैयारी के लिए सजग और सचेत भी किया जाय। इस प्रकार का साहित्य अपनी मूल प्रेरणा अथवा प्राथमिक उपक्रम से ही स्वभावतः एकांगी और एकपक्षीय बन जाता है और उसमें औदार्य, उन्मुक्तता व सार्वभौमता के वे उदात्त गुण नहीं आ पाते जिनके द्वारा

ही वस्तुतः उसे अपने नाम ('साहित्य') को सार्थक बनाने की क्षमता मिल सकती है। ऐसे साहित्य में कभी-कभी उस प्रचार-कार्य की भी गन्ध आने लगती है जिसमें हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य के-से केवल उपदेशों व सुझावों का ही पुट नहीं रहा करता, प्रत्युत द्वेषजनक ललकारों की झंकार भी भरी रहती है और जो उच्च साहित्यिक आदर्शों के अनुकूल न पड़कर उसे कभी-कभी संकीर्ण साम्प्रदायिकता का शिकार तक बना देता है।

जहाँ तक किसी कृति के वैज्ञानिक ढंग से सम्पादन का सम्बन्ध है उसके महत्त्व के विषय में किसी मतभेद को स्थान नहीं है। उसका पाठ उसका वास्तविक शरीर है जिसका स्वस्थ एवं सुन्दर होना ही उसकी सजीवता तथा क्षमता का परिचायक हो सकता है और बिना उसके मौलिक एवं स्वाभाविक रूप ग्रहण किये ऐसा सम्भव भी नहीं हो सकता। परन्तु जिस प्रकार किसी व्यक्ति को पूर्ण रूप से समझने तथा उसे उच्च व निम्न स्थान प्रदान करने के लिए केवल उसके स्वास्थ्य या सौन्दर्य को ही महत्त्व नहीं दिया जा सकता, उसकी आत्मा एवं चरित्र का भी समुचित मूल्य आंकना पड़ता है उसी प्रकार उक्त साहित्यिक कृति के विषय में भी कहा जा सकता है। आलोच्य ग्रन्थ के पाठ-निर्धारण का सफल कार्य उसे केवल उसकी प्रामाणिकता का ही निदर्शन-पत्र दे सकता है। उसके वर्ण्य-विषय, भाव-सौन्दर्य, रचना-शैली अथवा जन-हित-सम्बन्धी उपादेयता के प्रश्नों का समाधान इसके द्वारा नहीं किया जा सकता। प्रामाणिक रूप में निर्धारित किया गया पाठ इन दृष्टियों से अध्ययन करने के लिए उपयोगी आधार बन सकता है और इस प्रकार वह किसी कृति की सांगोपांग आलोचना के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण भी है, किन्तु केवल इतना ही सभी कुछ नहीं है। कभी-कभी तो उसमें की गई आवश्यकता से अधिक छान-बीन आलोचकों के सामने अनेक भ्रमात्मक प्रश्न भी खड़े कर देती है, जिनके कारण उनके निर्णय-कार्य में कई बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं।

अतएव, ऊपर दिये गए केवल कतिपय संक्षिप्त उदाहरणों द्वारा भी स्पष्ट हो जा सकता है कि आधुनिक आलोचना-पद्धति में अनुसन्धान का, चाहे वह शुद्ध वैज्ञानिक हो अथवा केवल ऐतिहासिक-मात्र ही क्यों न हो, एक बहुत बड़ा हाथ है। इसके द्वारा उसकी विविध प्रक्रियाओं में न केवल विवेचन के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो जाती है, अपितु आलोच्य कृति के अधिक-से-अधिक स्पष्टीकरण का पूरा अवसर भी मिल जाता है। आधुनिक आलोचना की जिन प्रणालियों ने अनुसन्धान को नहीं अपनाया है और जो तर्क एवं सैद्धान्तिक विवेचन का ही आश्रय ग्रहण करती हैं उनमें दार्शनिकता का पुट अधिक मात्रा में दीख पड़ता है। उनमें सुदूर गहराई तक पहुँचने एवं तथ्य निकालने के प्रयत्न किये जाते हैं, जिस कारण उनमें वास्तविक तत्त्व की ओर से ध्यान के प्रायः हट जाने की आशंका रहती है। उनका अनुसरण करने वाले आलोचक कभी-कभी एक ऐसी विचित्र शैली का भी प्रयोग करते हैं जिसमें भाव-वाचक शब्द अधिक रहा करते हैं और उसमें व्यक्त की गई भाव-धारा के अन्तर्गत क्रमिक प्रवाह एवं सातत्य के भी लक्षण बहुत कम देखने में आते हैं। फलतः इस प्रकार की पद्धति में भी हमें उस अनुपात-सम्बन्धी अनौचित्य के ही दर्शन होते हैं जिसके कारण हमने उपर्युक्त अन्य आलोचना-प्रणालियों को एकांगी ठहराया है। किसी साहित्यिक कृति-विशेष की आलोचना उसी दशा में पूर्ण कही जा सकती है जब उसमें उसकी विशेषताओं के अनुसार प्रायः सभी आवश्यक दृष्टिकोणों से विचार किया गया हो, किन्तु इसके साथ ही जिसमें किसी भी एक पक्ष पर उसके उचित अनुपात से अधिक बल भी न दिया गया हो।

६

हिन्दी-गवेषणा का पुनः संघटन

डा० विश्वनाथप्रसाद
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
पटना विश्वविद्यालय

कुछ ही वर्ष पहले हिन्दी एक पराधीन देश की भाषा थी। अब वह एक स्वतन्त्र देश की राष्ट्रभाषा है। उसके अनुरूप ही अब हमें अपने अन्वेषण-सम्बन्धी कार्य और पाठ्य-क्रम को भी उच्च स्तर पर पहुँचाना है। इधर युद्धोत्तर काल में विदेशों में भी साहित्य और भाषा के अध्ययन-अध्यापन में, नये-नये प्रयोग आरम्भ किए गए हैं और एक नया युग स्थापित करने की चेष्टा की जा रही है।

प्रधान विषय के रूप में हिन्दी के विधिपूर्वक पठन-पाठन का प्रारम्भ विश्वविद्यालयों में इधर ३० वर्षों के भीतर ही हुआ है और अन्वेषण-कार्य लगभग २० वर्षों से ही चल रहा है। हिन्दी से सम्बद्ध प्रथम थीसिस था डाक्टर मोहीउद्दीन कादरी का—'हिन्दुस्तानी ध्वनियों का अनुसन्धान' (१९३०); परन्तु वह लन्दन विश्वविद्यालय में पूरा किया गया था और वहीं से स्वीकृत हुआ था। अपने देश में प्रयाग विश्वविद्यालय से स्वीकृत डा० बाबूराम सक्सेना के थीसिस को ही डॉक्टरेट का पहला थीसिस कहा जा सकता है, जिसका विषय था—'अवधी का विकास'

(१९३१)। साहित्य के क्षेत्र में हिन्दी का प्रथम थीसिस था—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' जो १९३२ में काशी विश्वविद्यालय के द्वारा स्वीकृत हुआ। तब से लेकर अब तक इन बीस वर्षों के अल्पकाल में हिन्दी-खोज का काम अनेक विघ्न-बाधाओं के रहते हुए भी, उत्तरोत्तर आगे बढ़ता गया है। (अन्वेषण के क्षेत्र में हिन्दी में इन बीस वर्षों के भीतर भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों में जो काम हुआ है, उसका संक्षिप्त और सुन्दर परिचय डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने भारतीय प्राच्य-परिषद् के लखनऊ-अधिवेशन में उसकी हिन्दी-शाखा के अध्यक्ष-पद से दिया था।) इस सम्बन्ध में सामान्य परिचय के लिए वह पठनीय है। इधर हाल में खोज-सम्बन्धी जो ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उनमें डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्) विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

हिन्दी-अन्वेषण के क्षेत्र में काम करने वालों को अब इस आवश्यकता का बोध होने लगा है कि भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों या राज्यों में हिन्दी-साहित्य और भाषा से सम्बद्ध जो काम हुए हैं या हो रहे हैं, उनकी जानकारी सब को प्राप्त हो सके, जिससे पिष्टपेषण का भय नहीं रहे। भारतीय हिन्दी-परिषद् के मुखपत्र हिन्दी-अनुशीलन में समय-समय पर हिन्दी-खोज-सम्बन्धी सूचनाएँ निकलती हैं। नियमित रूप से ऐसी सूचनाएं प्रकाशित होनी चाहिएँ, जिनसे मालूम हो सके कि कहाँ कौनसे थीसिस स्वीकृत हुए; उनमें कौन से प्रकाशित हुए; कौनसे अप्रकाशित हैं तथा किन-किन विषयों पर कहाँ-कहाँ कौनसे काम अभी चल रहे हैं? प्रकाशित ग्रन्थों के प्रकाशन-स्थान, काल तथा संस्करण का भी निर्देश रहे तो अच्छा हो। यह कार्य नियमित रूप से तभी निष्पन्न हो सकता है जबकि सभी विश्वविद्यालय तथा अन्य संस्थाएँ जहाँ हिन्दी का अन्वेषण-कार्य होता हो, हिन्दी-अनुशीलन में प्रकाशनार्थ अपने खोज-सम्बन्धी प्रकाशनों और कार्यों की सूचना दे दिया करें। इसके अतिरिक्त इस बात का भी प्रबन्ध होना चाहिए कि किसी एक केन्द्र के अन्वेषक

को दूसरे केन्द्र के अन्वेषक के अप्रकाशित थीसिस को जो पूर्ण हो चुका हो, देखने का अवसर मिले। इस प्रकार के आदान-प्रदान का प्रबन्ध विश्वविद्यालयों के द्वारा हो सकता है। पुनरावृत्ति की शंका दूर करने के लिए तथा एक अन्वेषक की खोज का लाभ उसी क्षेत्र में काम करने वाले दूसरे अन्वेषक को सुलभ कराने के लिए ऐसा प्रबन्ध नितान्त आवश्यक है। पता चला है कि एक अन्वेषक लन्दन विश्वविद्यालय में हिन्दी-छन्दों के सम्बन्ध में अन्वेषण-कार्य कर रहे हैं। एक दूसरे अन्वेषक इसी क्षेत्र में पटना में भी काम रहे हैं। हिन्दी-छन्द-शास्त्र पर प्रयाग विश्वविद्यालय में डाक्टर जानकीनाथ सिंह के द्वारा पहले ही कुछ काम हो चुका है। परन्तु उनका थीसिस अभी अप्रकाशित है। अब इस एक ही क्षेत्र में खोज करने वाले अन्वेषकों को मालूम नहीं कि उसमें क्या काम हो चुका है और क्या शेष है। यों एक ही विषय में कई विद्वान् खोज का काम कर सकते हैं, परन्तु यह तो तभी सम्भव है जबकि एक की कृति को देखने का अवसर दूसरे को मिल सके। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए स्वीकृत थीसिसों के अविलम्ब प्रकाशन की व्यवस्था भी विश्वविद्यालयों की ओर से होनी चाहिए। साथ ही स्थान-स्थान के अन्वेषकों को ऐसे अधिवेशनों में सम्मिलित होने की पूर्ण सुविधा मिलनी चाहिए, जिससे विचार-विनिमय के द्वारा वे एक दूसरे के अन्वेषणों और परामर्शों का लाभ उठा सकें।

विभिन्न केन्द्रों में होने वाले अन्वेषण-कार्य के लिए यदि कोई निश्चित योजना भी बन सके तो बड़ा अच्छा हो। इसके लिए भिन्न-भिन्न राज्यों में प्राप्त होने वाली सामग्री का हमें पता होना चाहिए। हिन्दी-खोज की सामग्रियां स्थान-स्थान पर बिखरी हुई हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों में प्राप्त हस्तलिखित पुस्तकों की खोज और ग्रन्थों के परिचयात्मक विवरण के साथ उनकी सूचियों को प्रकाशित करने का काम भी अब हमें शीघ्र ही हाथ में लेना चाहिए। अन्वेषकों के हित के लिए डाक्टर माताप्रसाद गुप्त के 'हिन्दी पुस्तक साहित्य'-जैसे ग्रन्थों की भी अपेक्षा है।

इसी प्रकार विभिन्न विषयों में पत्र-पत्रिकाओं में अब तक जो निबन्धादि निकल चुके हैं, उनकी भी सूचियाँ तैयार हो जायँ तो अच्छा है।

परन्तु ऐसी सूचियों की बात कौन कहे, अभी तो ऐसे पुस्तकालय भी विरले ही हैं, जहाँ हिन्दी की प्राचीन पत्र-पत्रिकाओं की फाइलें भी सम्पूर्ण मिल सकें। अन्वेषण के लिए सबसे पहली आवश्यकता है अच्छे समृद्ध पुस्तकालयों की। अन्वेषकों को यह सुविधा रहनी चाहिए कि काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा जैसी संस्थाओं से वे पुस्तकें मँगवाकर काम कर सकें। हस्तलिखित प्रतियों के फोटो लेने का भी प्रबन्ध होना चाहिए। कार्यकर्त्ताओं को इतना अवकाश और आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए कि वे एक स्थान से दूसरे स्थान के पुस्तकालय में जाकर काम कर सकें। विश्वविद्यालयों में, मुद्रित ग्रन्थों के अतिरिक्त हस्तलिखित पोथियों के संग्रह के लिए भी पर्याप्त द्रव्य का प्रबन्ध होना चाहिए।

खोज के काम को सफल बनाने के लिए यह भी आवश्यक है कि खोज या खोज का निरीक्षण करने वाले शिक्षकों को शिक्षण-कार्य में अधिक न लगाकर खोज के लिए काफी समय दिया जाय। अभी तो कुछ ऐसा सिलसिला है कि हम में से बहुतेरे शिक्षण तथा प्रशासनादि सम्बन्धी कार्यों से इस प्रकार लाद दिए गए हैं कि उनकी शक्ति का प्रचुरांश उसी में खप जाता है। उच्चकोटि के अन्वेषण के लिए अधिक-से-अधिक अवकाश अपेक्षित है। लन्दन में मेरे प्रोफेसर, जिनके साथ मैं ध्वनि-विज्ञान के क्षेत्र में काम कर रहा था, सप्ताह में केवल एक प्रवचन-क्लास लेते थे और सारा समय अपने अन्वेषण-कार्य में या अन्य अन्वेषकों के कार्य के निरीक्षण और निर्देशन में लगाते थे। एक दूसरे अध्यापक से मैंने पूछा कि आप कल स्कूल नहीं आए थे, तो उत्तर मिला कि मैं रोज स्कूल ही आया करूँ तो मुझे अपने अन्वेषण-कार्य के लिए समय कब मिलेगा? वे सप्ताह में केवल तीन दिन स्कूल आते थे। ऐसी सुविधा हमें कहाँ नसीब है? हमारे विश्वविद्यालयों में अभी रिसर्च फेलोशिप का भी समुचित प्रबन्ध नहीं है। प्रत्येक विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में

कुछ ऐसे प्रोफ़ेसरों की व्यवस्था होनी चाहिए जिनका मुख्य काम हो अन्वेषण-कार्य और उसका संघटन, केवल क्लास में पढ़ाना नहीं।

इधर हिन्दी राज्यों में जनपदीय भाषाओं के लिखित और अलिखित स्वरूप तथा साहित्य के संग्रह, अध्ययन और विकास के लिए एक नई उमंग और उत्साह जग उठा है। हिन्दी के उन्नयन के लिए यह बाधक नहीं है, साधक ही है। हिन्दी राज्यों की जनपदीय भाषाओं का ऐतिहासिक या विवरणात्मक अन्वेषण किसी निश्चित आयोजना के अनुसार किया जाय तो अच्छा हो। परन्तु खेद की बात है कि अभी तक हिन्दी-राज्य के किसी भी विश्वविद्यालय में जीवित भाषाओं और बोलियों के वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए कोई प्रयोगशाला नहीं है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि हमारे दो वर्षों के प्रयास के बाद बिहार सरकार ने हाल में भाषा-सम्बन्धी गवेषणा के उपयुक्त एक प्रयोगशाला स्थापित करने के लिए आर्थिक सहायता दी है। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में हम वहाँ भाषाओं के ध्वन्यात्मक अनुसन्धान के लिए एक केन्द्र स्थापित कर सकेंगे, जहाँ आकर भाषा के क्षेत्र में काम करने वाले हमारे सभी सहकर्मियों को काम करने की सुविधा हो सकेगी।

मैंने यह सदा महसूस किया है कि किसी भी सामाजिक क्षेत्र में कार्य का श्रीगणेश छोटी-से-छोटी परिधि से ही करना ठीक है। कोई सामाजिक समुदाय स्वाभाविक रूप में जिन लक्षणानुरूप ध्वनियों का व्यवहार करता है, वे उसके सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक व्यापार हैं। मानव-सम्बन्धों का समुचित अध्ययन तब तक नहीं हो सकता जब तक उनके सन्तुलन की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिस्थितियों को ठिकाने से नहीं समझ लिया जाय। सामाजिक दृष्टि से जनसाधारण की लोकभाषाओं तथा स्थानीय और अपकृष्ट बोलियों (Jargons) का अध्ययन प्राक्कालीन संग्रहण की अपेक्षा, जिसके हम लोग अभ्यस्त हैं, कहीं अधिक व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक महत्त्व का विषय होगा। इस क्षेत्र में, जिसमें व्यापार में लगे हुए व्यक्तियों का साक्षात् अध्ययन अपेक्षित है,

भाषा-विज्ञान के अनुशीलन का सबसे अधिक आशापूर्ण भविष्य सन्निहित है। भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की इस नई शाखा के महत्त्व की ओर भारतीय भाषाओं के क्षेत्र में काम करने वालों का ध्यान आकर्षित करने के लिए हम मराठी भाषा के विकास के विषय में लिखे हुए यूल ब्लॉक के प्रसिद्ध ग्रन्थ Le Langue Marathe के सम्बन्ध में टर्नर साहब की उस आलोचना की ओर निर्देश करेंगे, जिसमें उन्होंने ब्लॉक के ग्रन्थ की प्रथम तथा तत्कालीन सफलता के दुर्भाग्यपूर्ण प्रभाव पर खेद और निवारणार्थक अनुशोचन प्रकट किया था। सबसे पहले श्रद्धेय सुनीति बाबू ने अपने Origin and Development of Bengali Language में ब्लॉक की योजना का अनुसरण किया और उसके बाद इस क्षेत्र में काम करने वाले प्रायः प्रत्येक कार्यकर्त्ता ने उसकी प्रेरणा से सोचा कि वह भी अन्य भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में उसी ढंग का काम करे, यद्यपि इसका अर्थ कम या बेशी उन्हीं तथ्यों और सामग्रियों की पुनरावृत्ति के सिवा और कुछ नहीं हुआ। क्या ही अच्छा हो, यदि भविष्य में अब ऐसे लोग वर्णनात्मक तथा संरचनात्मक भाषा-विज्ञान की इस नई शाखा और इस दिशा में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के विस्तृत क्षेत्र की बहुतेरी ऐसी समस्याओं की ओर ध्यान दें, जो चिरकाल से समाधान की राह देख रही हैं।

इस समय हिन्दी में एक और तरह के खोज-कार्य की भी आवश्यकता बढ़ गई है। वह है पारिभाषिक शब्दों की खोज और निर्माण का कार्य। आज जो राष्ट्रभाषा के माध्यम से विश्वविद्यालयों में सभी विषयों की शिक्षा और परीक्षा की व्यवस्था नहीं हो पाई है, उसका प्रधान कारण पारिभाषिक शब्दों का अभाव ही बताया जाता है। इस अभाव को दूर करने के लिए ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि प्रत्येक विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में गवेषणा की एक स्वतन्त्र सहायक शाखा (Auxiliary Branch) रहे, जिसमें दो-एक अन्वेषक ज्ञान-विज्ञान के अन्य विभागों के लिए उनके विशेषज्ञों की सहायता से पारिभाषिक शब्द-

निर्माण तथा तत्सम्बन्धी कोष-निर्माण-कार्य में लगे हों। इस सम्बन्ध में एक निश्चित योजना के अनुसार काम करना आवश्यक है। ऐसी एक योजना सन् १९५० ई० में हिन्दीभाषी क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों के वाइस-चांसलरों की कॉन्फ्रेंस में तैयार भी की गई थी। (प्रत्येक विश्वविद्यालय के जिम्मे निम्नलिखित क्रम से Arts Faculty के एक या दो विषयों का पारिभाषिक कोष तैयार करने का भार सौंपा गया था—

प्रयाग विश्वविद्यालय—सैन्य-विज्ञान, संगीत और भूगोल।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय—न्याय और राजनीति।

लखनऊ विश्वविद्यालय—मानवशास्त्र और दर्शन तथा मनोविज्ञान और आचारशास्त्र।

नागपुर विश्वविद्यालय—अर्थशास्त्र और वाणिज्य।

उस्मानिया विश्वविद्यालय—समाजशास्त्र।

पटना विश्वविद्यालय—साहित्यालोचन तथा भाषाविज्ञान।

राजस्थान विश्वविद्यालय—शिक्षा।

सागर विश्वविद्यालय—इतिहास।)

पता नहीं, इस योजना के अनुसार अब तक कहाँ क्या कार्य हो सका है। पटना विश्वविद्यालय की ओर से इस दिशा में जो कुछ थोड़ा-सा काम हुआ था, उसका परिणाम प्रकाशित हो रहा है और शीघ्र ही विद्वज्जनों की सेवा में विचारार्थ प्रस्तुत किया जाएगा।

(उक्त योजना का मन्तव्य था कि

(१) प्रत्येक विषय के शब्द-संग्रह के लिए अलग-अलग उपसमितियाँ संघटित हों।

संगृहीत शब्दों की स्वीकृति के लिए जो समिति बने, उसमें प्रादेशिक भाषाओं के प्रतिनिधि भी रहें।

(३) कार्य-संपादन के लिए एक केन्द्रीय विशेषज्ञ समिति संघटित हो, जिसके अधीन भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों के केन्द्रों में शब्द-निर्माण का कार्य करने के लिए उपसमितियों में से प्रत्येक को विशेष-विशेष

विषय सौंप दिए जायें और प्रत्येक में योग्य भाषा-वैज्ञानिक तथा उस विश्वविद्यालय के उस विषय-विशेष के ऐसे विशेषज्ञ हों जो हिन्दी के भी जानकार हों।)

केन्द्रीय विशेषज्ञ-समिति में भाषा-वैज्ञानिकों तथा भिन्न-भिन्न विश्व-विद्यालयों के हिन्दी विद्वानों की एक स्थायी तालिका (Panel) रहे और जो विषय विचारार्थ लिया जाय उसके लिए विश्वविद्यालयों से उस विषय-विशेष के ऐसे विशेषज्ञों को आमन्त्रित किया जाय जो हिन्दी के जानकार हों। पारिभाषिक शब्दों की अन्तिम स्वीकृति के पहले प्रादेशिक भाषाओं के प्रतिनिधियों के सुझावों और मतों को भी ध्यान में रखा जाय। इस समिति की जो उक्त स्थायी तालिका हो, वह भिन्न-भिन्न विश्व-विद्यालयों के केन्द्रों में चलते हुए कामों का निरीक्षण और समन्वयन करे।

भारतीय हिन्दी-परिषद् ने भी पारिभाषिक शब्द-निर्माण-कार्य सम्पन्न किया है। वह कोष पाँच भागों में पूरा हुआ है, जिसके दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं और अन्य तीनों भागों को भी प्रकाशित करने का प्रयत्न हो रहा है। डाक्टर रघुवीर के भी प्रसिद्ध आङ्ग्ल-भारतीय महाकोष के द्वितीय और संशोधित संस्करण की प्रतीक्षा की जा रही है। पारिभाषिक शब्द-निर्माण के क्षेत्र में वह तो आधार-शिला के समान है। इस दिशा में इधर व्यक्तिगत रूप में काम करने वालों में अग्रगण्य नाम है—डा॰ गयाप्रसाद, अध्यक्ष, व्याधिविद्या (Pathology)-विभाग, मेडीकल कालेज, पटना, का जिन्होंने शरीर-विज्ञान (Anatomy) के लगभग १३,००० शब्दों का कोष तैयार कर दिया है। वह अब शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। चिकित्सा-विज्ञान की अन्य शाखाओं का पारिभाषिक कोष भी वे तैयार कर रहे हैं और उन्हें समुचित सहयोग और सुविधाएँ मिलीं, तो कुछ वर्षों में वे इस काम को पूरा कर सकेंगे, जिससे इस विषय में उच्च से उच्च कोटि की शिक्षा और गवेषणा का कार्य सुचारु रूप से संचालित हो सके।

केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-विभाग ने पारिभाषिक शब्दों की समस्या

को हल करने के लिए एक कमिटी नियुक्त की है, जिसका उद्घाटन ११ दिसम्बर, १९५० ई० को केन्द्रीय शिक्षामन्त्री मौलाना आज़ाद ने किया। पता नहीं, इन दो वर्षों में इस कमिटी ने अब तक क्या काम किया है। ऐसे महत्त्वपूर्ण कामों में रहस्यात्मकता तरह-तरह की शंकाएँ पैदा कर देती है। प्रारम्भ में ही इस कमिटी ने यह मन्तव्य स्थिर किया कि भारत की मुख्य साहित्यिक भाषाओं में प्रकाशित ग्रन्थों में अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार हो। परन्तु सच पूछें तो अन्तर्राष्ट्रीय नाम की न तो कोई निश्चित शब्दावली है और न उसका कोई प्रामाणिक कोष ही अब तक प्रकाशित हुआ है। इस सम्बन्ध में जो भ्रान्ति फैली हुई है, उसका निराकरण होना चाहिए।[1] (ऐसे ही तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों को आदर्श मानकर उस्मानिया युनिवर्सिटी के अनुवाद-विभाग की ओर से पारिभाषिक शब्द-निर्माण का जो कार्य हो रहा है, उसकी ओर विद्वानों का ध्यान जाना चाहिए।) हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में एफिनिटी, अनालौजी, कॉन्सटिट्यूशन, कॉन्सटिट्यूटियाँ (Constitutional), अकाडमी, अकाडमिकी, कांकेव, कांकेवता, और कंपेरेटक (Comparator के लिए), एक्सेप्टक (Accepter) जैसे अन्तर्राष्ट्रीय शब्द तथा पहुँचिया (Accessible), बनियाना (Afforest), बहसना या दलीलना (Argue)—जैसे नवनिर्मित (?) शब्द कहाँ तक ग्राह्य होंगे—यह विचारणीय है। एक ओर ये नये नमूने हैं, और दूसरी ओर डाक्टर रघुवीर के प्रयोग हैं, जिनमें इंच, लालटेन आदि जनसाधारण में प्रचलित शब्दों के स्थान में भी वैज्ञानिक व्यवहार के लिए नये शब्द प्रस्तुत किए गए हैं। इनके अतिरिक्त मराठी,

---

१. इस सम्बन्ध में देखिए—विश्वनाथ प्रसाद, परिभाषिक शब्दों की समस्या, ज्योत्सना, विशेषांक—जनवरी १९५१ ई० तथा डा० रघुवीर Elementary English Indian Dictionary of Scientific Terms की भूमिका, पृष्ठ ८ से १२ तक।

बंगला आदि प्रादेशिक भाषाओं में तथा हिन्दी के विद्वानों और प्रतिष्ठित संस्थाओं द्वारा भी इस दिशा में कार्य हुआ है। ऐसी दशा में जब तक भारतीय हिन्दी-परिषद् जैसी भारतीय विश्वविद्यालयों की कोई सम्मिलित संस्था उपर्युक्त ढंग की किसी निश्चित योजना के अनुसार इन सबकी समीक्षा और समन्वयन का कार्य अपने हाथ में नहीं लेती तब तक इस क्षेत्र में बढ़ती हुई उलझनों के सुलझने की कोई आशा नहीं की जा सकती।

विविध कला-कौशलों तथा व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में पारिभाषिक शब्दों की समस्या को हल करने के लिए हमें एक दूसरी दिशा में भी खोज-कार्य को प्रवर्तित करना है। किसानों, मजदूरों तथा अन्य श्रमजीवियों की बोलचाल की भाषा में समाज-शास्त्र, शिल्प तथा उद्योग-धंधों के बहुतेरे बढ़िया-बढ़िया शब्द मिलेंगे जो राष्ट्रभाषा की समृद्धि के पूरक हो सकते हैं। ऐसे शब्दों का सर्वे और संग्रह कराना परम आवश्यक है, अन्यथा केवल अंग्रेजी की तालिका तैयार करके उनका पर्याय प्रस्तुत करते जाने की परिपाटी पर ही निर्भर करने से हम अपनी लोक-भाषाओं के हज़ारों अर्थपूर्ण उपयोगी जीवित पारिभाषिक शब्दों से वंचित हो जायँगे। संतोष की बात है कि बिहार राज्य में ऐसे शब्दों के अनुसन्धान का काम बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से हो रहा है। मध्यभारत में प्रचलित ऐसे शब्दों का एक सुन्दर संग्रह श्री कृष्णानन्द गुप्त ने किया है। इस सम्बन्ध में डाक्टर हरिहरनाथ गुप्त का 'भारतीय ग्रामोद्योगों की शब्दावली का अध्ययन' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस ढंग का अनुसन्धान-कार्य सभी प्रदेशों के विश्वविद्यालयों द्वारा आयोजित होना चाहिए।

७

अनुसन्धान का स्वरूप

प्रो० ललिता प्रसाद सुकुल
कलकत्ता विश्वविद्यालय

संसार के प्रत्येक अंचल में ज्ञान की सरिता का प्रवाह आदि और अन्त दोनों में प्रायः अनन्त माना गया है। प्रादुर्भूत और सुरक्षित होकर यही ज्ञानराशि साहित्य का स्वरूप धारण कर लेती है। जिस प्रकार जीवन में आज की नींव विगत कल पर है उसी प्रकार साहित्य का वर्तमान स्वरूप उसके पिछले स्वरूपों पर आधारित रहता है। और यदि ध्यान से देखा जाए तो वर्तमान में भविष्य की रूपरेखा झलकती जान पड़ेगी।

साहित्य के क्षेत्र में अतीत की ओर दृष्टि डालना कोरा व्यसन ही नहीं वरन् आवश्यक और अनिवार्य हो जाता है क्योंकि बिना पृष्ठभूमि के यथेष्ट परिचय के वर्तमान साहित्य से सम्बन्धित कैसे और क्यों की जिज्ञासा शान्त नहीं हो सकती। यही अनिवार्य आवश्यकता है अनुसन्धान की। बिना इसके ज्ञान की भित्ति सुदृढ़ और सुव्यवस्थित रूपों में उठ नहीं सकती। अनुसन्धान-कार्य के सम्बन्ध में प्रायः अनेक प्रकार के प्रश्न उठा करते हैं।

एक तो यह है कि अनुसन्धान तर्कप्रधान होना चाहिए या तत्त्वप्रधान। दूसरा प्रश्न भी कुछ इसी रूप में उठा करता है कि अनुसन्धान का अर्थ क्या आधुनिक साहित्य को लेकर भी किया जा सकता है ?

यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो इन प्रश्नों का आधार कुछ भी नहीं। जहाँ तक आधुनिक साहित्य का प्रश्न है, वह अन्वेषणीय नहीं कहा जा सकता। वह आलोच्य है। आधुनिक साहित्य से तात्पर्य यहाँ यह है कि जिसका लेखक जीवित है, साहित्य-सेवा में रत है, या वह साहित्य जो आधुनिक काल में किसी धारा विशेष के माध्यम स्वरूप रचा गया है। इन दोनों प्रकारों का साहित्य अन्वेषणात्मक इसलिए नहीं होता कि लेखक की कलम बन्द नहीं हुई। उसकी विचारधारा में विविध प्रकार के भावी परिवर्तनों की सम्भावनाएँ हैं। यदि किसी आधुनिक धारा के प्रतीकस्वरूप किसी व्यक्ति विशेष द्वारा की गई थोड़ी-सी साहित्यिक राशि प्रस्तुत है और यदि वह धारा आधुनिक काल की प्रचलित धारा है तो उसके सम्बन्ध में भी नये परिवर्तन और नई दिशाओं की ओर मुड़ जाने की सम्भावना है। अतः जब तक वह इन विविध सम्भावनाओं की परिधि से मुक्त न हो जाय तब तक उसकी रूपरेखा पूर्ण निश्चित नहीं मानी जा सकती। यही कारण हैं जिनके आधारों पर यह मान्यता स्थिर है कि किसी भाषा या आधुनिक साहित्य आलोचना की वस्तु हुआ करता है, अनुसन्धान की नहीं।

जहाँ तक आचार्यत्व की उपाधि प्राप्त करने या प्रदान करने की बात है, वहाँ तक यह सम्भव है कि आधुनिक साहित्य से सम्बन्धित पुष्ट और वैज्ञानिक आलोचना-ग्रन्थों पर भी ऐसी उपाधियाँ प्राप्त कर ली जायँ। किन्तु ऐसे कार्य को अनुसन्धान नहीं कहा जा सकता। यह तो प्रत्यक्ष रूप से आलोचना-क्षेत्र का एक विषय हो सकता है। अनुसन्धान-कार्य अपने वास्तविक अर्थ में अपेक्षा करता है अतीतकालीन साहित्य की। क्योंकि उस साहित्य की अपनी रूपरेखा, अपना लक्ष्य और अपना स्वरूप, अपनी परिणति होती है। यही अनुसन्धान

का निमित्त है। अब इसके सम्बन्ध में तर्कप्रधानता और तत्त्व-प्रधानता की जो समस्यायें उपस्थित की जाती हैं वे भी कुछ विशेष अर्थ नहीं रखतीं। क्योंकि तर्क और तत्त्व दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। तर्क के ही आधार पर तत्त्व स्थिर किए जाते हैं। इसलिए इनमें से किसी एक की प्रधानता का कोई प्रश्न नहीं।

अनुसन्धान-कार्य का यदि वास्तविक अर्थ समझना हो तो वह कुछ इस प्रकार ठहरेगा कि जैसे ईंटों का ढेर कितना ही बड़ा क्यों न हो उसे दीवार नहीं कहा जा सकता। यदि ईंटें जब उठाकर किसी क्रम से एक के ऊपर एक जड़ दी जाती हैं तब ही दीवार का निर्माण होता है। चारों ओर साहित्य में बिखरी हुई विविध प्रकार के ज्ञान की ईंटें बिखरी पड़ी रहती हैं। अन्वेषक का कार्य यह होता है कि वह अपने विषय के अनुकूल ज्ञान की विविध ईंटों को चुने, एकत्रित करे और उन्हें परिष्कृत करके सजाकर अपने समय तक की निर्मित दीवार पर यथास्थान जड़ दे ताकि उसके बाद आने वाले अन्वेषक उसके द्वारा रची गई ईंट की दृढ़ता पर पूर्ण विश्वास रखता हुआ अपने द्वारा अन्वेषित उसी प्रकार की उपयुक्त ईंट को पहले जड़ी हुई ईंट के ऊपर जड़ सके और ज्ञान की दीवार की ऊँचाई में अपना योगदान दे सके। लेकिन यह भी स्मरण रखना होगा कि यद्यपि ईंट भी मिट्टी से ही बनती है किन्तु मिट्टी जब तक ईंट के रूप में गढ़ न ली जाय वह ईंट कहलाने की अधिकारिणी नहीं। इस प्रकार किसी भी अन्वेषक में पहले तो यह विवेक अपेक्षित है कि वह ईंट और मिट्टी के भेद को समझ ले। कच्ची ईंट और पक्की ईंट के अन्तर को भी जान ले। यदि ईंटें प्रस्तुत न हुईं तो अपने चारों ओर फैली हुई मृत्तिका से ईंटों के निर्माण करने की कला को जान ले। यदि ईंटें प्रस्तुत नहीं हैं तो अन्वेषक का सर्व-प्रथम कार्य यह होना चाहिए कि फैली हुई मृत्तिका की पक्की ईंटें बनाने का कार्य ही हाथ में ले।

जहाँ तक विस्तृत हिन्दी साहित्य की सामग्री का सम्बन्ध है, इसमें

सन्देह नहीं कि इस क्षेत्र में आज अनुसन्धान-कार्य की बहुत अधिक गुंजाइश है और कार्य करने की आवश्यकता भी है। यह हर्ष का विषय है कि इस समय हिन्दी विविध भारतीय विश्वविद्यालयों में अपना उच्च स्थान प्राप्त कर चुकी है। सुशिक्षित विद्वान् आज उसकी सेवा में रत हैं और अनुसन्धान का कार्य भी दिनोदिन उन्नत हो रहा है। इधर अनुसन्धान के क्षेत्र में जो कुछ कार्य हुआ है उस पर यदि एक दृष्टि डाली जाय तो कुछ थोड़े से को छोड़कर अधिक कार्य कुछ समीक्षात्मक ढंग का सामने आया। विविध प्राचीन अथवा मध्यकालीन विचारकों की कृतियों की समीक्षा जीवन-दर्शन या उनके समय की सामाजिक अवस्था या इसी प्रकार के अन्य दृष्टिकोणों से किया गया है। बहुत सी कृतियों का साहित्यिक मूल्यांकन भी कर डाला गया है। लेकिन आज का हिन्दी का प्रत्येक साहित्य-सेवी इस विषय में संदिग्ध है कि कौनसी कृति किस कवि की है या किस विचारक की है। जो पाठ विविध कृतियों के हमारे सामने आते हैं उनके सम्बन्ध में भी पग-पग पर सन्देह बना रहता है। यह भी कहना अभी तक हमारे लिए सम्भव न हो सका कि किसी अतीतकालीन विचारक या कवि की प्रायः सभी कृतियां अपने सुनिश्चित रूप में सामने आ सकी हैं। हिन्दी के हजारों कवि और लेखकों में शायद केवल दो ही—तुलसी और बिहारी—ऐसे हैं जिन पर विशेष कार्य अब तक हो सका है। छोटे-मोटों की तो बात ही क्या? सूर, कबीर, केशव और देव प्रभृति साहित्य के विशिष्ट स्तम्भ भी अभी तक हिन्दी जगत के सामने प्रस्तुत नहीं किए जा सके। मीराबाई पर भी कार्य अनुपातत: काफी किया गया किन्तु बंगीय हिन्दी-परिषद् के थोड़े से कार्य को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी उनके पदों के मूल रूप प्रस्तुत करने की चेष्टा नहीं की गई।

ऐसी दशा में जब तक अनुसन्धान कार्यकर्त्ताओं की विविध कृतियों के मूल पूर्णरूप से वैज्ञानिक संस्करण में प्रस्तुत न हों तब तक समीक्षात्मक अध्ययन बालू पर भित्ति उठाना है। रासो-काल का विस्तृत

साहित्य अभी तक प्रायः अन्धकार में ही पड़ा हुआ है। उसका मूल्यांकन किसी भी दृष्टिकोण से करना तब तक सम्भव नहीं जब तक कि विविध रासो सुसम्पादित होकर सामने न आ जायँ। अच्छा होगा वर्तमान समय में विविध विश्वविद्यालय अपने सुयोग्य और उत्साही अन्वेषकों को अभी इसी दिशा में लगने के लिए प्रेरित करें। उन्हें उपयुक्त सामग्री या तो दे दी जाय या ऐसी सामग्री जहाँ-जहाँ एकत्रित है वहाँ तक पहुँचने और उसके निरीक्षण और परीक्षण की सुविधा उन्हें दी जाय। विविध मूल कृतियाँ वैज्ञानिक ढंग से सम्पादित करा डाली जायँ और तब अन्य विषयक अनुसन्धान-कार्य अपने आप ही सुलभ हो जायेगा। आशा है, देश का विद्वन्मण्डल इस दिशा में भी विचार करेगा।

८

अनुसन्धान की प्रारम्भिक बातें

प्रो० विनय मोहन शर्मा

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

नागपुर विश्वविद्यालय

प्रतिवर्ष एम. ए. का परीक्षा-फल घोषित होते ही छात्रों का ध्यान अनुसन्धान की ओर आकर्षित होता है। प्रश्न उठता है—किस विषय पर अनुसन्धान किया जाय ? अतः अनुसन्धान के लिए विषय का चुनाव प्रमुख है। अनुसन्धान-प्रेमियों को सबसे पहले अपनी रुचि के विषयों की सूची बना लेनी चाहिए और रुचि-प्राधान्य के अनुसार उनका क्रम निर्धारित कर लेना चाहिए। उसके पश्चात् यह देखना चाहिए कि अपनी रुचि के विषयों में से ऐसा कौनसा विषय है जिस पर अनुसन्धान नहीं हुआ है और हुआ भी है तो किस रूप में हुआ है। क्या उस पर पूर्ण प्रकाश डाला जा चुका है ? क्या उस पर नये दृष्टिकोण से प्रकाश डालने की अभी भी आवश्यकता है ? यह तभी ज्ञात हो सकता है जब हम या तो अपने विषय की प्राप्य सामग्री का स्वयं अध्ययन करें या उस विषय के विशेषज्ञ का परामर्श लें।

विषय का निर्वाचन हो जाने के पश्चात् उसकी सीमा (Scope) बाँधने की नितान्त आवश्यकता है। विषय की सीमा इतनी विस्तृत न हो कि उस पर मर्यादित समय में कार्य ही न हो सके। अनुसन्धानकर्त्ता को अपनी क्षमता का भी भान होना चाहिए। कई बार विषय की सीमा इतनी अधिक विस्तृत होती है कि योग्यता की कमी के कारण अनुसन्धान-कर्त्ता असफल हो जाता है। एक बार एक महाशय 'विद्यापति का जीवन और उनका काव्य' विषय पर अनुसन्धान करने के लिए प्रस्तुत हुए। जब उनसे पूछा गया—'आप मैथिल, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में से कितनी भाषाएँ जानते हैं ?' तो उन्होंने उत्तर दिया—'इनमें से एक भी नहीं, पर मैं प्रयत्न करूँगा। विद्यापति मुझे बहुत प्रिय हैं।' महीनों बीत जाने पर भी ये महाशय उपर्युक्त एक भी भाषा का कामचलाऊ ज्ञान सम्पादन न कर सके। विवश हो इन्हें अनुसन्धान-कार्य त्याग देना पड़ा। दूसरा उदाहरण एक छात्रा का है। उन्हें गोंडी भाषा से इसलिए रुचि पैदा हुई थी कि उनकी नौकरानी गोंडी बोलती थी। पर जब कार्य प्रारम्भ हुआ तब उन्हें पता चला कि गोंडी भाषा का वही एक रूप नहीं है जो उनकी गोंडिन नौकरानी बोलती है। उसके स्थान-भेद के अनुसार कई रूप हैं और उस पर आर्य-भाषाओं के अतिरिक्त अनार्य भाषाओं का भी प्रभाव पड़ा है। केवल हिन्दी जानने से इस भाषा पर शोध-कार्य नहीं हो सकता। पर अनेक भाषाओं का प्रारम्भिक ज्ञान श्रम और समय चाहता था। अतः उन्हें भी अपने कार्य से उदासीन होना पड़ा।

हाल ही में एक और सज्जन 'हिन्दी में हास्य रस और उसकी देश-विदेशों के साहित्यों से तुलना, शीर्षक विषय लम्बी-चौड़ी रूपरेखा के साथ लेकर आये। जब उनसे पूछा गया कि 'आप सामान्य रूप से कितनी भाषाएँ जानते हैं ?' तो उन्होंने कहा—'हिन्दी, मराठी और अंग्रेजी।' परन्तु उनका विषय तो संसार भर की भाषाओं से सम्बन्ध रखता था जिसके लिए उन्हें अनुवाद-रूप में प्राप्य सामग्री के माध्यम से भी अध्ययन करने में

कम श्रम और असुविधा न होती। उन्हें अपने विषय को हिन्दी-साहित्य तक ही सीमित रखने की सलाह दी गई। परिणाम आशाजनक जान पड़ता है।

कहने का तात्पर्य यह कि अपनी क्षमता और योग्यता के अनुसार विषय का चुनाव और उसकी सीमा निर्धारित करनी चाहिए जिससे अनुसन्धान के कार्य में सुविधा होती है और पूर्ववर्ती अनुसन्धान-कर्त्ताओं के कार्य का पिष्टपेषण भी नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए यदि आपको नाटक से रुचि है और नाटकों के विकास पर प्रबन्ध (Thesis) विद्यमान है तो आपका काम है कि आप उस प्रबन्ध को पढ़कर यह जानें कि उसमें कौनसी दिशा शोध के लिए शेष रह गई है। यदि आगे नाटकों का विकास ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है तो आप शिल्प (Technique) की दृष्टि से नाटकों का अध्ययन कर सकते हैं। इस प्रकार विषय को सीमित बनाने से आप उस पर गहराई से चिन्तन-मनन कर सकते हैं। जब विषय की सीमा विस्तृत होती है, तब उसमें परिचयात्मक तथ्य ही समाविष्ट हो सकते हैं। साहित्य के इतिहास पर लिखे गये प्रबन्धों में विभिन्न अध्यायों के अन्तर्गत निबन्ध, कहानी, कविता, नाटक, आलोचना आदि का विहंगावलोकन मात्र आ सका है और यही सम्भव भी था। यदि साहित्य के एक-एक अंग को लेकर शोध किया जाय तो प्रत्येक अंग पर अधिक गहन अध्ययन और विवेचनपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की जा सकती है। और यदि अंग विशेष के विशिष्ट लेखक या कवि तक अपने को सीमित रखा जाय तो शोध-कार्य में अधिक गहराई आ सकती है। उदाहरण के लिए यदि 'हिन्दी कविता का विकास' विषय लिया जाय तो उसमें शोधकर्त्ता के लिए सरसरी दृष्टि डालना ही सम्भव होगा। इसके स्थान पर 'छायावादी हिन्दी कविता' विषय लेने पर युग-विशेष की कविता पर अधिक अनुशीलनमय सामग्री सामने आ सकती है, और यदि छायावाद-युग के प्रतिनिधि कवि 'प्रसाद' पर प्रबन्ध लिखा जाय, तो और भी अधिक सूक्ष्म और

विस्तृत विवेचन के लिए क्षेत्र खुल जाता है।

अतः जब विषय की सीमा निर्धारित हो जाय तब उसका उपयुक्त शीर्षक चुनना चाहिए। शीर्षक ऐसा हो जो अधिक लम्बा तो न हो पर अपने प्रतिपाद्य विषय का निर्देशक अवश्य हो।

विषय के निश्चय हो जाने के बाद उसकी रूपरेखा तैयार करने का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है। रूपरेखा गृहीत विषय के क्रमानुसार संक्षिप्त पर स्पष्ट होनी चाहिए। उससे आपकी अनुसन्धान-दिशा का (अर्थात् आप किस तथ्य को किस दृष्टिकोण से प्रकाश में लाना चाहते हैं) स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए। अस्पष्ट रूपरेखा से शोधकर्त्ता की अक्षमता और तैयारी की कमी का बोध होता है।[1]

अनुसन्धान का लक्ष्य अप्रकाशित और अनिर्णीत सत्य या तथ्य पर प्रकाश डालना है या प्रकाशित सत्य अथवा तथ्य की अपनी दृष्टि से नई व्याख्या करना है।

जब रूपरेखा तैयार हो जाती है तब सामग्री-संचय की चिन्ता होती है। सामग्री निम्न स्रोतों से प्राप्त की जा सकती है—

१. प्रकाशित पुस्तकें;

२. अप्रकाशित पाण्डुलिपियाँ;

३. पत्र-पत्रिकाएँ;

४. सरकारी, ग़ैर सरकारी रिपोर्टें; और

५. विशेषज्ञों का सम्पर्क (प्रत्यक्ष भेंट अथवा पत्र-व्यवहार द्वारा)

सन्दर्भ-सूची (Bibliography) विशेषज्ञों के परामर्श से सतर्कता के साथ बनाकर अध्ययन-कार्य प्रारम्भ करना चाहिए। प्रकाशित

---

१. अभी तक हिन्दी में जो प्रबन्ध प्रकाशित हुए हैं उनमें यदि प्रारम्भिक रूपरेखा दे दी जाती तो अनुसन्धान-जिज्ञासुओं का सहज ही मार्ग-दर्शन हो सकता था। आशा है, भविष्य में जो प्रबन्ध प्रकाशित होंगे उनमें इस बात की ओर विशेष लक्ष्य दिया जायगा।

पुस्तकों और अप्रकाशित पाण्डुलिपियों के लिए अच्छे पुस्तकालयों की आवश्यकता है। अप्रकाशित पाण्डुलिपियाँ प्रायः विशिष्ट पुस्तकालयों में ही प्राप्त होती हैं। दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ विशिष्ट व्यक्ति या संस्था के पास रहने से उनका उपयोग करने में शोधकों को बड़ी कठिनाई का अनुभव करना पड़ता है। ऐसी दशा में प्रभावशाली व्यक्तियों के सहयोग से दुर्लभ पाण्डुलिपियों की या तो नकल कर लेनी चाहिए या उनके चित्र उतरवा लेने चाहिएँ।

सामग्री संचित हो जाने के पश्चात् आवश्यक प्रसंगों और बातों की टीप (Note) लेनी प्रारम्भ कर देनी चाहिए। जिस पुस्तक, पाण्डुलिपि, पत्र या पत्रिका से टीप ली जाय, उसका नाम और पृष्ठ-संख्या का लिख लेना आवश्यक है। यदि किसी लेखक के विचारों का सार ग्रहण करना हो, तो सचाई के साथ (बिना तोड़-मरोड़ के) लेना चाहिए।

शोधकर्त्ता का दृष्टिकोण उस वैज्ञानिक के समान होता है जो तटस्थ वृत्ति के साथ अपने विषय का चयन और विश्लेषण करता है। अपने मत के आग्रह को लेकर शोध-कार्य करना उचित नहीं है। जाति या राष्ट्र-प्रेम के वशीभूत होकर कई बार शोधकर्त्ता तथ्यों की खींच-तान कर भ्रामक निष्कर्ष निकालते हैं। शोध की यह वैज्ञानिक प्रणाली नहीं है। शोधकर्त्ता को तो प्राप्य सामग्री के आधार पर अपने निष्कर्षों को प्रस्तुत करना चाहिए।

प्राप्य सामग्री को क्रमवार जमाकर उस पर टीप (Notes) तैयार कर चुकने के अनन्तर शोध-कर्त्ता को अपना प्रबन्ध लिखना चाहिए। विषय-क्रम के अनुसार जो अध्याय उसने बनाये हों, उनके अन्तर्गत टीप की हुई सामग्री का उपयोग होना चाहिए। एक तथ्य के बाद दूसरा तथ्य निष्कर्ष सहित प्रस्तुत होना चाहिए। एक आवश्यकतानुसार पाद-टिप्पणियों (Foot-notes) में संदर्भ-ग्रन्थ, पत्रिका आदि का नाम और पृष्ठ-संख्या देनी चाहिए। यदि एक ही पुस्तक से लगातार दो-तीन बार उद्धरण देना पड़े तो पृष्ठ देना चाहिए और दूसरी बार ग्रन्थ का नाम न

देकर 'वही' लिखकर केवल पृष्ठ-संख्या दे देनी चाहिए।

अपने मत के समर्थन में जो प्रमाण उपलब्ध हों, उनका बराबर उद्धरण देना चाहिए और विरोधी मतों का भी सोल्लेख निर्वचन होना चाहिए। पक्ष-विपक्ष की सामग्री को निरपेक्ष भाव से तोलना अनुसन्धान-कर्त्ता का धर्म है। प्रबन्ध की भाषा सीधी-सादी और उलझन-रहित होनी चाहिए। मुझे ज्ञात है कि एक शोधकर्त्ता का प्रबन्ध इसलिए निम्न कोटि का समझा गया कि उसकी भाषा आडम्बरपूर्ण और चक्करदार थी। उसके तथ्यों का निरूपण इसी कारण संदिग्ध-सा जान पड़ा। अतएव जो कुछ कहना अभीष्ट हो, इसे सप्रमाण सतर्क और सहज भाव से साफ़-साफ़ कहना चाहिए।

यदि प्रबन्ध-सम्बन्धी प्रारम्भिक बातों पर ध्यान दिया जाय, तो मेरा विश्वास है कि शोध-जिज्ञासुओं को निराश होने का अवसर नहीं आयगा।

६

हिन्दी में पाठानुसन्धान

डा० माताप्रसाद गुप्त
एम. ए., डी. लिट्.
प्रयाग विश्वविद्यालय

गत बारह-तेरह वर्षों में हिन्दी में अनुसन्धान-कार्य में अच्छी प्रगति दिखाई पड़ी है। केवल हिन्दी में ही ऐसा हुआ है, यह नहीं है, प्रायः सभी विषयों में यह प्रगति दिखाई पड़ी है। किन्तु हिन्दी इस क्षेत्र में किसी से पीछे नहीं रही है, यही प्रसन्नता की बात है।

हिन्दी में यह अनुसन्धान अनेक दिशाओं में हुआ है। कुछ दिशाएं अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय रही हैं, और कुछ कम। किन्तु एक दिशा ऐसी रही है, जिसकी ओर ध्यान बिलकुल नहीं दिया गया है—वह है पाठानुसन्धान की दिशा। उसी के सम्बन्ध में यहाँ मैं कुछ कहना चाहूँगा।

पाठानुसन्धान हिन्दी में समस्त अनुसन्धान-कार्य के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता है, कारण यह है कि पिछले लगभग एक सौ वर्षों से पूर्व का हिन्दी का समस्त साहित्य मूलतः हस्तलिखित प्रतियों के रूप में ही प्राप्त है, और उत्तरोत्तर जितना ही हम उसके प्राचीनतर और प्राचीन-

तम साहित्य की ओर बढ़ते हैं उनकी पाठ-समस्या गहन से गहनतर और गहनतम होती जाती है।

ऐसा नहीं है कि हिन्दी में संपादित संस्करणों का सर्वथा अभाव हो किन्तु प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग मूल अथवा कवि के प्रामाणिक पाठ के निर्धारण के लिए वैज्ञानिक पद्धति पर किया गया हो, ऐसा उसके आधे दर्जन प्राचीन ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी नहीं कहा जा सकता है। इस दशा में जो अनुसन्धान-कार्य इन संस्करणों की सहायता से किया गया है, अथवा किया जा रहा है उसकी नींव कितनी कच्ची है, यह सरलता से समझा जा सकता है।

उदाहरण के लिए पृथ्वीराज रासो' को ले लीजिए। पिछले सत्तर-पचहत्तर वर्षों में 'पृथ्वीराज रासो' के सम्बन्ध में बड़ी ऊहा-पोह हुई है। कुछ विद्वान् उसकी ऐतिहासिकता के समर्थक रहे हैं, और कुछ उसे सर्वथा अनैतिहासिक ही नहीं जाली तक मानते रहे हैं। इधर उसके एक निबन्ध-ग्रन्थ पर पी-एच. डी. की उपाधि भी प्रदान की गई है। फिर भी यह समस्त ऊहा-पोह और अनुसन्धान-कार्य 'रासो' के ऐसे पाठों को लेकर किया गया है जिनकी प्रामाणिकता सर्वथा विवाद-ग्रस्त है। कुछ कम नहीं, 'रासो' के चार 'पाठ' प्राप्त हो चुके हैं। जिन्हें राजस्थान के विद्वानों ने प्रायः 'रूपान्तर' कहा है। ये हैं क्रमशः—बृहद्, मध्यम, लघु और लघुतम। छन्द संख्या की दृष्टि से बृहद् के केवल एक-तिहाई के लगभग छंद मध्यम में, मध्यम के केवल एक-तिहाई के लगभग छन्द लघु में, और लघु के भी केवल एक-तिहाई के लगभग छन्द लघुतम पाठ में प्राप्त होते हैं। लघुतम के भी समस्त छन्द लघु में, लघु के भी समस्त छन्द मध्यम में और मध्यम के भी समस्त छन्द बृहद् में पाये जाते हैं, ऐसा निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। यदि लघुतम के समस्त छन्द लघु, मध्यम तथा बृहद् पाठों में भी समान रूप से पाये जाते हों, तो स्थूल रूप में यह कल्पना की जा सकती है कि लघुतम पाठ ही कृति के प्राप्त पाठों में कदाचित् प्राचीनतम पाठ प्रस्तुत करता है। किन्तु राजस्थान के

कुछ विद्वान् एक और विचार भी प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि मध्यम, लघु और लघुतम उत्तरोत्तर उसके मूल पाठ के संक्षेप मात्र हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि कोई कार्य उसके प्रकाशित संस्करण बृहद् पाठ को आधार मानकर किया जाता है, तो वह कहाँ तक उपयोगी और टिकाऊ हो सकता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

एक और उदाहरण 'बीसलदेव रासो' का ले लीजिए। इसकी कुछ प्रतियों में केवल २०० के लगभग छन्द पाये जाते हैं, कुछ में २४७-२२४ कुछ में २६० के लगभग, कुछ में २७५ के लगभग, कुछ में २९४-२९५ तथा कुछ में ३१४-३१५। ऐसा भी नहीं है कि लगभग एक ही संख्या के छन्दों की प्रतियों का पाठ भी एक ही हो—२९४-२९५ छन्द-संख्या की जो प्रतियाँ मिलती हैं वे एक दूसरे से इतनी भिन्न हैं कि केवल आधे छन्द दोनों में समान हैं और शेष नितान्त भिन्न हैं। एक और प्रकार से इन पाठों के भेद को समझा जा सकता है। इन पाठों में कुल मिलाकर ४७१ छन्द पाये जाते हैं, जिनमें से केवल १०८ ऐसे हैं जो सब में समान रूप से पाये जाते हैं, और १० ही और ऐसे हैं जो अंशतः भी समस्त पाठों में समान रूप से पाये जाते हैं। इस प्रकार अधिक से अधिक केवल ११८ छन्द—अर्थात् समस्त छन्द-संख्या का केवल एक-चौथाई अंश ऐसा है जो विभिन्न पाठों में सामान्य है। शेष तीन-चौथाई असामान्य हैं। प्रकाशित संस्करण ३१४ छन्दों का और प्राप्त पाठों में सबसे बड़ा है। और उसी के आधार पर 'बीसलदेव रासो' के सम्बन्ध में आज तक की समस्त ऊहा-पोह हुई है। ऐसी दशा में उस ऊहा-पोह को कितना महत्त्व दिया जा सकता है, यह प्रकट ही होगा।

केवल एक और उदाहरण लेना पर्याप्त होगा। 'सूरसागर' में प्रकाशित संस्करणों में ४,००० के लगभग पद हैं, किन्तु कदाचित् किसी भी एक प्राचीन प्रति में इतने पद नहीं मिलते हैं। विभिन्न प्रतियों में इनकी संख्या ८०० के लगभग से लेकर कदाचित् ३,२००-३,३०० तक ही है। 'सूरसागर' तथा सूरदास पर अभी तक जो अनुसन्धान-कार्य हुआ है, वह

उसके ४,००० के लगभग के संस्करणों के आधार पर ही हुआ है। कल्पना कीजिए कि यदि उनमें से केवल ७००-८०० पद ही सूरदास के प्रामाणिक सिद्ध हुए, तो शेष ३,२००-३,३०० पदों के आधार पर सूरदास के सम्बन्ध में हम जिन परिणामों पर पहुँचे हैं उनकी क्या गति होगी ?

किन्तु समस्या तो यह है कि सामान्य अन्वेषक यदि इन प्रकाशित संस्करणों को लेकर ही अनुसन्धान न करे, तो वह करे क्या ? यदि वह अपने अध्ययन के प्राचीन ग्रन्थों के पाठ-निर्धारण में ही लग जावे, तो उसका शोध-कार्य पीछे रह जाता है, और पाठानुसन्धान ही उसके लिए एक स्वतन्त्र अनुसन्धान का विषय बन जाता है। फिर किसी कवि की एक-दो कृतियाँ हों, तो उसके लिए वह कमर भी कसे। मान लीजिए कि उसके कवि की कृतियाँ संख्या में इससे अधिक हैं, अथवा उसका अध्ययन कवि-विशेष तक ही सीमित न रहेगा, किसी विशेष धारा अथवा विशेष युग का उसे अध्ययन करना है, तब वह क्या करे ? फिर, पाठ-विज्ञान भी एक विज्ञान है, उसके स्वतन्त्र सिद्धान्त और उसकी विशेष कार्य-प्रणाली है, जिनसे अवगत होना चाहिए, और यह बिना उसके विशेष अध्ययन-अध्यापन के सम्भव नहीं है, इसलिए सामान्य अन्वेषक से यह आशा करना व्यर्थ ही होगा कि वह किसी भी कृति के प्रामाणिक पाठ का निर्धारण करके अपने कार्य में आगे बढ़ेगा। यह तो पाठ को जैसा कहा जा चुका है, एक स्वतन्त्र अनुसन्धान की दिशा है, और इस दिशा में स्वतन्त्र रूप से ही कार्य किया जा सकेगा।

अस्तु इस दिशा में कार्य करने के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक रूप से होनी चाहिएँ—

(१) पाठ-विज्ञान तथा उससे सम्बन्धित विषयों का अध्ययन और अध्यापन प्रत्येक विश्वविद्यालय में आरम्भ होना चाहिए। यह प्रसन्नता की बात है कि इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने गत दो वर्षों से हिन्दी की एम. ए. परीक्षा में पाठ-विज्ञान को विशेष अध्ययन के एक वैकल्पिक प्रश्नपत्र के विषय के रूप में स्थान दिया है, और लगभग एक दर्जन

विद्यार्थी इस विषय को लेकर एम. ए. की परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुके हैं। इतना ही नहीं डी. फिल्. तथा डी. लिट्. उपाधियों के लिए भी पाठानुसन्धान विषयक कार्य भी उक्त विश्वविद्यालय में हो रहा है।

२. देश की हिन्दी-संस्थाओं तथा सरकारों को हिन्दी की समस्त हस्तलिखित प्रतियों तथा दुष्प्राप्य संस्करणों की खोज करानी और खोज-विवरण प्रकाशित करना चाहिए। इस कार्य में, यह हमारे दुर्भाग्य का विषय है, इधर अत्यधिक शिथिलता है। जो नाम मात्र की खोज हो भी रही है—और वह केवल नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हो रही है—उसके भी प्रकाशन की कोई सन्तोषजनक व्यवस्था नहीं है। परिणाम यह है कि पहले पच्चीस वर्षों से अधिक का खोज-विवरण अभी तक अप्रकाशित पड़ा हुआ है। और देशों में हिन्दी-ग्रन्थों की जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं, उनकी जानकारी उतनी दुर्गम नहीं है जितनी उनकी जो इस देश में पड़ी हुई हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने अपने यहाँ प्राप्य समस्त हिन्दी प्रतियों और पुस्तकों का एक पूर्ण 'सेन्सस', प्रकाशित किया है। अन्य देशों में जो प्रतियाँ वहाँ के कला-भवनों तथा संग्रहालयों में रखी हुई हैं, उनकी सूचियाँ प्रायः प्रकाशित हैं और कभी-कभी वहाँ के पुस्तक-विक्रेता भी ऐसी प्रतियाँ और दुर्लभ संस्करणों की सूचनाएँ प्रकाशित करते रहते हैं यहाँ की सरकारों और यहाँ के कलाभवन, संग्रहालय तथा पुस्तक-विक्रेता इसकी भी आवश्यकता नहीं समझते।

३. प्राचीन प्रतियों और दुष्प्राप्य संस्करणों की सुरक्षा भी नितान्त आवश्यक है। प्राचीन प्रतियाँ और दुष्प्राप्य संस्करण रद्दी कागज के रूप में बिक रहे हैं, अथवा उन्हें कीड़े खा रहे हैं, अथवा वे सड़-गलकर नष्ट हो रहे हैं, और उनकी सुरक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं है। न हमारी सरकारों ने अभी तक इस बात की आवश्यकता समझी है कि उनकी सुरक्षा के सम्बन्ध में कोई वैधानिक व्यवस्था की जाय। यदि उन्हें राष्ट्र की संपत्ति करार देकर इस दिशा में आवश्यक वैधानिक व्यवस्था की जा सके, तो बड़ा उपकार हो।

४. इनके खोज तथा संग्रह-कार्यों में जिन व्यक्तियों की नियुक्ति की जाय वे ऐसे होने चाहिएँ जो पाठ-विज्ञान के पण्डित हों, और जिन्होंने उसकी शिक्षा प्राप्त की हो।

५. पाठ-विज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार निर्धारित पाठों को सभी प्रकार का प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। उनके प्रकाशन की उचित व्यवस्था हो, उन्हें पाठ्य-क्रमों में स्थान दिया जाय, और उनके लिए संस्थाएँ तथा सरकारें विशेष पुरस्कारों की योजना करें।

६. पाठ-विज्ञान विषयक खोज के लिए संस्थाओं तथा सरकारों को पर्याप्त अनुसन्धान-वृत्तियों की भी योजना करनी चाहिए और विश्व-विद्यालयों में उसके लिए आवश्यक साधनों को प्रस्तुत करने में आर्थिक योग प्रदान करना चाहिए।

हिन्दी पाठानुसन्धान का क्षेत्र सर्वथा अछूता और उपेक्षित है। इस-लिए जब तक उपर्युक्त साधनों की व्यवस्था न की जायगी, उसमें प्रगति की आशा करना व्यर्थ होगा।

१०

अनुसन्धान का स्वरूप

डा० भगीरथ मिश्र

एम. ए., पी-एच. डी.

रीडर, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

आज के युग में अनुसन्धान की धूम है। इस क्षेत्र में बड़ी व्यापक रीति से कार्य हो रहा है। प्रमुखतया वैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय और साहित्यिक अनुसन्धान सम्बन्धी अनेक कार्य आयोजित एवं पूर्ण हो रहे हैं; परन्तु अनेक, अनुसन्धान के परिणामस्वरूप प्रकाशित, कृतियों के देखने से कुछ भ्रम उत्पन्न हो जाता है। वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय अनुसन्धान में तो कठिनाई नहीं। इसमें नवीन तथ्यों, नियमों, सम्बन्धों, कारणों एवं परिणामों की खोज करना अनुसन्धान के क्षेत्र के अन्तर्गत है। प्रमुखतया भ्रामक स्थिति साहित्यिक अनुसन्धान के सम्बन्ध में उत्पन्न होती है और यहाँ हमें अनुसन्धान और अध्ययन तथा अनुसन्धान और आलोचना के अन्तर को देखना है। अनुसन्धानात्मक कृतियों में अभी तक अध्ययन भी प्रस्तुत हुए हैं और आलोचनाएँ भी। अतः यह स्पष्ट रीति से समझ लेना आवश्यक है कि अध्ययन एवं आलोचना के कौनसे रूप अनुसन्धान के भीतर परिगणित हो सकते हैं।

जहाँ तक अनुसन्धान के स्वरूप का प्रश्न है वहाँ तक वैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय अथवा साहित्यिक अनुसन्धानों में कोई मौलिक अन्तर नहीं माना जा सकता। अनुसन्धान के भीतर नवीन तथ्यों, नवीन विचारों, निष्कर्षों, नियमों, दृष्टियों, परम्पराओं, कारणों आदि का उद्घाटन आवश्यक है। अनुसन्धान के भीतर प्रमुख सूत्र इन्हीं में से किसी एक का होना चाहिए और इस सूत्र के सहारे अन्य सामग्री प्रस्तुत की जा सकती है। इतना ही नहीं, उपर्युक्त वस्तुओं में से एक या अनेक स्पष्टतया प्रगट भी होनी चाहिए। यों भी किसी सुसम्बद्ध एवं संगठित अध्ययन में एकसूत्रता होना आवश्यक है; यदि यह सूत्र किसी भी प्रकार से अब तक अप्रकट होता है और उसका परिपूर्ण उद्घाटन किसी अध्ययन से हो सकता है, तो वह अध्ययन अनुसन्धान के भीतर ही होगा, बाहर नहीं। उदाहरण के लिए मान लीजिये हम केशवदास का अध्ययन करना चाहते हैं। उनके सम्बन्ध की लगभग सभी बातें स्पष्ट हो चुकी हैं; यदि उनका हम सरल, सुबोध अथवा साहित्यिक शैली में निबन्धात्मक रूप से अध्ययन करते हैं, तो यह केवल अध्ययन हुआ अनुसन्धान नहीं। परन्तु यदि हम किसी एक मान्यता, धारणा या तथ्य को केशव की जीवनी और कृतियों के अध्ययन से सिद्ध कर देते हैं, तो वह अध्ययन एक अनुसन्धान होगा। यदि हम यह सिद्ध कर देते हैं कि केशव ने अपने समय के अथवा परवर्ती साहित्य का मार्ग-प्रदर्शन किया, या केशव में भाव-सौन्दर्य है ही नहीं आलंकारिक चतुराई मात्र है और इस प्रकार की मान्यता व्यापक तथ्यों के आधार पर प्रामाणिक सत्य का रूप हो सकती है, तो वह अध्ययन अनुसन्धान का अंग बन सकता है; परन्तु एक दृष्टि या एकसूत्रता के अभाव में विविध पक्षों का अध्ययन, अध्ययन मात्र ही होगा; अनुसन्धान नहीं।

अब हमें आलोचना के क्षेत्र को लेना है। आलोचना का प्रमुख कार्य मूल्यांकन है। कोई वस्तु, तथ्य अथवा कृति अपने युग के मापदण्ड के आधार पर कितनी मूल्यवान है और उसमें क्या त्रुटियाँ हैं, यह बताना; अथवा उसका जो मानव ज्ञान-भूमि या भाव-भूमि में शाश्वत्

महत्व है, उसका निरूपण करना आलोचना का काम है। आलोचना का आधार और साधन सुनिश्चित सिद्धान्त और तत्त्व होते हैं, उन तत्त्वों और सिद्धान्तों पर कसकर अथवा सतत सेवन से बने हुए संस्कारों पर पड़े हुए प्रतिबिंब को स्पष्ट करके आलोचना का काम पूरा हुआ करता है। अतएव स्पष्टतया आलोचना और अनुसन्धान के अपने-अपने भिन्न-भिन्न कार्य हैं। इतना होते हुए भी आलोचना के क्षेत्र में अनुसन्धान हो सकता है और अनुसन्धान-कार्य की आलोचना की जा सकती है, इसमें सन्देह नहीं होना चाहिए।

किसी भी कृति, तथ्य अथवा वस्तु के अनुसन्धान की विधि-स्थितियाँ या अवस्थायें हुआ करती हैं। प्रथम अवस्था तो वह है जब किसी अज्ञात वस्तु या तथ्य का उद्घाटन किया जाता है। इस नवीन ज्ञान के प्रकाश में पूर्ववर्ती ज्ञान को फिर देखना होता है। द्वितीय अवस्था वह है, जब इस प्रकार ज्ञात वस्तु या तथ्य की नवीन व्याख्या होती है। उसके ज्ञात स्वरूपों या पक्षों के अतिरिक्त कोई ऐसा पक्ष प्रगट होता है जिसे जानने पर हमारी पूर्ववर्ती मान्यताओं और धारणाओं को फिर से सँभालना होता है। कभी-कभी यह नवीन व्याख्या हमारी बनी हुई रूढ़ि या परम्परागत धारणाओं को एकदम ही बदल देती है। तृतीय अवस्था सामंजस्य की होती है जिसमें हम युग की मान्यताओं या नूतन आदर्शों के प्रकाश में पूर्ववर्ती या आधुनिक प्रवृत्तियों का सामंजस्य देखना चाहते हैं और उन प्रवृत्तियों के मूलवर्ती कारणों का ऐतिहासिक या मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं। अन्तिम स्थिति यह है, जब इस प्रकार खोजा हुआ तथ्य प्रामाणिक सत्य के रूप में स्वीकृत हो जाता है और उसकी मान्यता पर सत्य के खोज की प्रगति आगे बढ़ती है। इस प्रकार अनुसन्धान की विभिन्न अवस्थाओं में सत्य का पाक्षिक या आंशिक उद्घाटन होता रहता है और जो अन्त में पूर्णतया प्रकाशित हो जाता है और आगे के अनुसन्धान के लिए नींव का या पृष्ठभूमि का काम करता है। अनुसन्धान में इसी प्रकार की पीठिका या पृष्ठभूमि का देना आवश्यक

समझा जाता है, जो स्वतः नवीन न होते हुए भी नवीन तथ्यों के अनुसन्धान की भूमिका का कार्य करती है।

इस प्रकार अनुसन्धान का प्रमुख उद्देश्य पूर्ण, अनन्त एवं शृंखलाबद्ध ज्ञान को प्रकाशित करना है। जहाँ कहीं कोई ऐसे तथ्य नहीं प्राप्त होते जो हमें प्राप्त या प्रतिष्ठित किसी धारणा के लिए आवश्यक हैं, वहाँ हम कुछ सत्यगर्भा कल्पना का भी सहारा लेते हैं और कारणस्वरूप तथ्य का अनुमान लगाते हैं। आजकल यह भ्रमात्मक धारणा-सी हो रही है कि अनुसन्धानकर्त्ता को अनुमान या कल्पना से काम नहीं लेना चाहिए। यह ठीक है कि जहाँ तथ्य प्राप्त या प्राप्य हैं, वहाँ यदि कोई अनुसन्धानकर्त्ता प्रमाद या आलस्यवश अनुमान लगाता है, तो यह अनुचित है; परन्तु विषय पर प्राप्त समस्त ज्ञान को हृदयंगम करने के बाद, पारंगत व्यक्ति अपने अनुभव के आधार पर तथ्यपरक अनुमान लगा सकता है; जो आगे के अनुसन्धानकर्त्ताओं के सामने एक मार्ग का निर्देशन करते हैं। अतएव अनुसन्धान के क्षेत्र में कल्पना या अनुमान का पूर्ण तिरस्कार हानिकारक है; मतैक्य और मतवैषम्य की बात दूसरी है।

(अनुसन्धान ज्ञान के क्षेत्र में उठी हुई शंकाओं का समाधान करने के उद्देश्य से किया जाता है; परन्तु अनुसन्धानकर्त्ता को अपने इस प्रकार के प्रयास में असंख्य नवीन ज्ञान-तत्त्व (विषय से सम्बद्ध या असम्बद्ध रूप में) प्राप्त हुआ करते हैं जो उसका अनुभव अपने क्षेत्र से इतर क्षेत्रों में भी बढ़ाते हैं।) इस प्रकार उसकी दृष्टि व्यापक होती जाती है। परन्तु अनुसन्धानकर्त्ता का कार्य बड़े ही तटस्थ निरीक्षण का कार्य होता है। वह राग-द्वेष से प्रभावित नहीं हो सकता तथा विभिन्न स्रोतों से प्राप्त तथ्यों को भी वह अपने विवेक की कसौटी पर कसकर ग्रहण करता है। सत्य से बढ़कर प्रिय उसके लिए कोई वस्तु नहीं होती। उसका प्रयत्न मूलभूत, गहरे तथ्य का खोजना होता है और इस कार्य में शुद्ध सच्चाई की आवश्यकता है। यदि किसी का कार्य झूठा

रहा तो आगे के अनुसन्धान-कार्य उसकी नींव पर नहीं खड़े किये जा सकते; वे गड़बड़ नींव पर खड़े भवन की भाँति प्रायः ढह जाते हैं और इस प्रकार अनुसन्धान-कार्य का गौरव हीन हो जाता है।

(अनुसन्धान-कार्य की ईमानदारी एक और बात में है। उसमें इस बात की आवश्यकता है कि तथ्य-प्राप्ति के जो भी आधार और स्रोत हैं उनका स्पष्ट एवं पूर्ण उल्लेख किया जाय। जिससे जो कोई भी उन्हें देखना चाहे, वह देख सके।) इससे एक बात और भी होती है। कभी-कभी कोई अपनी विशेष प्रकार की व्याख्या करके कुछ का कुछ अर्थ लगा सकता है अतएव यह आवश्यक है कि समस्त आधारभूत सामग्री का पूरा और स्पष्ट उल्लेख किया जाय।

किसी व्यापक क्षेत्र के विभिन्न अंगों पर किये गये अनुसन्धानों पर ही किसी देश, जाति, समाज, संस्कृति, साहित्य, दर्शन आदि के वास्तविक इतिहास लिखे जा सकते हैं। साधारण अध्ययन में तो साहित्य, इतिहास, शास्त्र, दर्शन-विज्ञान आदि सब अलग-अलग ही जान पड़ते हैं पर अनुसन्धान के क्षेत्र में सब अनन्त ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रमात्र हैं, विभिन्न प्रकाशधारायें हैं जो एक दूसरी को प्रकाशित एवं प्रभावित करती रहती हैं।

अनुसन्धान का कार्य लगन और त्याग का कार्य है। बहुत से लोग अनुसन्धान सम्बन्धी ख्याति और पद के प्रलोभन में अनुसन्धान-कार्य को सच्चाई के साथ सम्पन्न नहीं करते। अनुसन्धान-कार्य को अधूरा या गड़बड़ करना उसे बिलकुल न करने से अधिक हानिकर है, और अनुसन्धान-कार्य को सबसे अधिक खतरा और धोखा ऐसे ही लोगों से होता है जो सत्य की खोज या कार्य की पूर्णता के प्रति ईमानदार नहीं, वरन् अपने पद या ख्याति के लिए ही केवल अनुसन्धान में प्रवृत्त हैं। उनका सत्कार अनुसन्धानकर्त्ता के रूप में तथा उनके कार्य को अनुसन्धान-कार्य के रूप में स्वीकृत करना समस्त मानवता को धोखा देना है। अतः यह कार्य पवित्र, निस्स्वार्थ भाव से ही करना चाहिए। अनु-

सन्धान-कार्य को एक तपस्या के रूप में समझने वाले व्यक्ति ही इसे सफलतापूर्वक कर या करा सकते हैं।

परन्तु अनुसन्धान-कार्य को नीरस या अरोचक कहना भी असत्य है। यों तो जिनकी अभिरुचि उधर नहीं उनके लिए काव्य, संगीत और कलाएँ भी अरुचिकर लगती हैं। परन्तु जो उसमें वास्तविक तैयारी और लगन के साथ प्रवेश करते हैं वे उसमें अमित आनन्द, संतोष और सफलता का अनुभव करते हैं। इसके लिए अनुसन्धानकर्त्ता को अपनी अभिरुचि का विषय ही अनुसन्धान के लिए लेना चाहिए।

अनुसन्धान के कार्य किसी भी देश और समाज के गौरव-स्तम्भ होते हैं। आज हम अपनी अनुसन्धान सम्बन्धी परम्पराओं को भुलाये हुए हैं, परन्तु हमारा साहित्य इस बात का साक्षी है कि हमारी अनुसन्धान की परम्परायें बड़ी ही गहरी हैं। वेदों और उपनिषदों की चिन्तन और अनुभव-पद्धतियाँ, दर्शन, व्याकरण, नीति, काव्यशास्त्र आदि की खण्डन-मण्डन और मंथन-प्रणालियाँ, ज्ञान और अनुसन्धान की गौरवमयी परम्परायें हैं। कपिल, व्यास, गौतम, पतंजलि, कणाद, पाणिनि, वशिष्ठ, नारद, कौटिल्य, भरत, भामह, दंडी, मम्मट, अभिनवगुप्त आदि अब भी अपने ग्रन्थों और विचारों से अनुसन्धान का मार्ग प्रशस्त करते हैं। हमें पाश्चात्य परम्परा को अपनाते हुए भी अपनी भारतीय पद्धति को उपेक्षित नहीं कर देना चाहिए। पूर्ववर्ती आचार्य के ज्ञानसूत्र को पकड़कर उसे सुलझाना और आगे बढ़ाना आचार्यों का कार्य रहा है और इसी प्रकार के कार्य को सम्पन्न कर उन्होंने अपनी महती प्रतिभा का परिचय दिया है। ये मनस्वी ही हमारे अनुसन्धान-पथ के प्रेरक हैं।

हिन्दी के क्षेत्र में अभी अनुसन्धान का श्रीगणेश ही हुआ है। अनुसन्धान के फलस्वरूप हमें निश्चित रूप से साहित्य, संस्कृति, विचारधारा, इतिहास, दर्शन पर प्रामाणिक सामग्री चाहिए जिसके आधार पर विश्वकोश, शब्दकोश, इतिहास और आलोचना के ग्रन्थों

का निर्माण हो सके। साथ ही साथ रचनात्मक साहित्यकार को भी ठोस, प्रामाणिक अध्ययन-सामग्री प्राप्त होनी चाहिए जिससे प्रतिभा और व्युत्पत्ति का संयोग होकर हमारे बीच उच्चकोटि की साहित्यिक कृतियाँ आ सकें। आज का समाज एक निश्चित जीवन-दर्शन चाहता है। उसके संस्कारों को परिष्कृत करके जीवन-दर्शन देना यह ऐसी ही महान् कृतियों का कार्य है। मेरा विश्वास है कि अनुसन्धान-कार्य की लगन और सच्चाई, समाज में निस्स्वार्थ सेवा-भाव भी ला सकती है, अतः इसका सामाजिक महत्व भी कम नहीं।

११

अनुसन्धान का स्वरूप

डा० सत्येन्द्र

एम. ए. पी-एच. डी.

अध्यक्ष, कलकत्ता विश्वविद्यालय

कलकत्ता

यथार्थ स्थिति—शोध अथवा अनुसन्धान की स्थिति कई कारणों से संतोषजनक नहीं की जा सकती। उसका सबसे बड़ा कारण यह है कि इस शोध अथवा अनुसन्धान के कार्य का महत्त्व ठीक-ठीक नहीं समझा जा रहा है। आज शोध और अनुसन्धान पी-एच. डी. अथवा डि. लिट्. की उपाधि प्राप्त करने की व्यावसायिक दृष्टि से किया जा रहा है। फलतः जो अवस्था परीक्षाओं में बैठने वाले विद्यार्थियों की होती है, वही एक उपाधि की महत्वाकांक्षा रखने वाले अनुसन्धित्सु की होती है। वह अपने परामर्शदाता से कहता है कि "कोई सरल-सा विषय बताइये ताकि घर बैठे कार्य संपन्न हो जाय। मुझे कौन विद्वान् बनना है। मुझे तो बस डिग्री दिला दीजिए।" थीसिस के साथ वह परीक्षकों के भी अनुसन्धान में रहता है और इस चेष्टा में भी रहता है कि उसके अनुकूल ही परीक्षक नियुक्त हों। वस्तुतः यह समस्त वृत्ति ही अनुसन्धान-कार्य के

लिए उपयुक्त नहीं। हिन्दी का जहाँ तक प्रश्न है, यह स्थिति और भी भयानक इसलिए हो गई है कि आज तक भी जिन महाविद्यालयों अथवा विश्वविद्यालयों में हिन्दी विषय में रिसर्च करने का आयोजन है वहाँ उसके लिए कोई भी समुचित व्यवस्था नहीं। गिलोय और नीम चढ़ी। यही कारण है कि साधारणतः हिन्दी के अनुसन्धान-कार्य से विद्वानों को असन्तोष है। फिर आरम्भिक अवस्था में अनुसन्धित्सु को योग्य परीक्षक और परामर्शदाता की आवश्यकता होती है। आज वस्तुस्थिति यह है कि भारत के किसी भी विश्वविद्यालय में शोध और अनुसन्धान के लिए न तो आवश्यक वातावरण है, न सुविधायें हैं। प्रयाग, काशी और लखनऊ विश्वविद्यालयों में विद्यार्थी को विश्वविद्यालय में रहकर अनुसन्धान-कार्य करना पड़ता है, किन्तु अनुसन्धान की व्यवस्था उनमें भी पूर्णतः संतोषजनक नहीं मानी जा सकती। अन्य विश्वविद्यालयों में तो किसी भी कालेज के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष में यह योग्यता मान ली जाती है कि वह अनुसन्धान-कार्य का सूत्रधार हो सकता है। कहीं-कहीं यह शर्त भी है कि उन्हें पाँच वर्ष हिन्दी की एम. ए. कक्षाएँ पढ़ाने का अनुभव हो। एम. ए. की कक्षाएँ पढ़ाने और अनुसन्धान-कार्य का संपादन, दो बिलकुल भिन्न कार्य हैं। एम. ए. के अध्यापकों को वस्तुतः किसी भी विषय का पूर्ण और सांगोपांग ज्ञान हो सकता है, यह एक प्रश्न ही है। एम. ए. की परीक्षाएँ और पढ़ाई पाठ्य-पुस्तकों के घेरे में बँधकर होती है। पाठ्य-पुस्तकों का पूरा-पूरा ज्ञान रखने वाले किसी एम. ए. के अध्यापक को विद्वानों की कोटि में नहीं बिठाया जा सकता। ऐसे कूप-मण्डूक अनुसन्धान अधीक्षकों से अनुसन्धित्सु को क्या परामर्श मिल सकता है और अनुसन्धान के परिणाम पर उनकी सम्मति का क्या मूल्य हो सकता है? किन्तु विश्वविद्यालयों के वर्तमान वातावरण और जड़ विधान में इन्हीं को यह गौरव दिया जाता है। इस कारण भी हिन्दी के अनुसन्धान-कार्य का स्तर अभिनन्दनीय नहीं हो सका है। इन्हीं 'विधान-निर्मित' विद्वानों और तत्त्वज्ञों को ही बहुधा

अनुसन्धान द्वारा लिखी गई थीसिसों का परीक्षक बनाया जाता है, ये उस थीसिस के साथ क्या न्याय कर सकेंगे। उनके निर्णय अपनी-अपनी अभिरुचि पर निर्भर करते हैं। अध्ययन, मनन और परीक्षण पर नहीं। यदि इन विश्वविद्यालयों में प्रेषित किए गए प्रबन्धों के परीक्षकों की सूची प्रस्तुत की जाय तो बड़े मनोरंजक तथ्यों का उद्घाटन हो सकता है। आपको ऐसे परीक्षक इनमें मिल सकते हैं जिन्हें न तो यह पता होगा कि प्रबन्ध के विषय से सम्बन्धित आज तक क्या-क्या साहित्य प्रकाशित हो चुका है, और न जिन्होंने उस विषय पर कोई अतिरिक्त पुस्तक ही पढ़ी होगी। प्रबन्धों के परीक्षक केवल विशेषज्ञ ही होने चाहिएँ पर इन परीक्षकों में आपको एक-दो ही विशेषज्ञ मिलेंगे। अधिकांश परीक्षकों को तो उस विषय में साधारण ज्ञान भी नहीं होगा। यथार्थ विशेषज्ञ बहुधा विश्वविद्यालयों के नियम के अन्तर्गत परीक्षक ही नहीं हो सकते। इसी स्थिति के परिणामस्वरूप आज हिन्दी में अनुसन्धान-कार्य की दुर्दशा है। यह कहा जा सकता है कि यह स्थिति तो सभी विषयों में समान है किन्तु ऐसा नहीं। क्योंकि हिन्दी को एक तो विश्वविद्यालयों में स्थान ही बहुत बाद में मिला। दूसरे, इसी कारण हिन्दी में अनुसन्धान की ठोस परम्परा भी स्थापित नहीं हो सकी। हिन्दी के साथ जो सौतिया व्यवहार विश्वविद्यालयों में रहा है उसके कारण ऐसा सम्भव भी नहीं था। अब हिन्दी के विद्वान् अधिकांश अपनी सूझ-बूझ पर ही निर्भर रहकर शोध की दृढ़ परम्परा स्थापित करने में अवश्य संलग्न हो रहे हैं। राष्ट्रभाषा हो जाने के कारण हिन्दी का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है। उसमें प्रतिभाशाली विद्वान् हैं। उनके सहयोग से और गम्भीरतापूर्वक अनुसन्धान की समस्या पर विचार करके हिन्दी में अनुसन्धान-कार्य को ऐसा आदर्श स्वरूप प्रदान किया जा सकता है जिससे वह प्रेरणाप्रद हो सके। दिल्ली विश्वविद्यालय केन्द्रीय विश्वविद्यालय है। इसकी अनुसन्धान-परिषद् यदि इस महान् उद्देश्य की पूर्ति में संकल्पपूर्वक अग्रसर हो तो यह अभाव दूर हो

सकता है। आरम्भ तो शुभ प्रतीत होता है, क्योंकि अनुसन्धान का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए उसने एक ठोस कदम उठाया है। विविध विद्वानों के सुझावों से अनुसन्धान का जो स्वरूप खड़ा हो उसी के अनुरूप अनुसन्धान-परिषद् अपना निर्माण कर सकती है।

अनुसन्धान का वास्तविक स्वरूप—अनुसन्धान का कार्य अत्यन्त विशद और गुरु है यह ग्रन्थ-लेखन अथवा निबन्ध-लेखन से भिन्न है। बहुत से व्यक्ति यह समझते हैं कि मैं इतनी पुस्तकें लिख चुका हूँ। मेरे इतने लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। फलतः मेरे लिए अनुसन्धान करके प्रबन्ध लिखना कोई बड़ी बात नहीं। यह एक बड़ा भारी भ्रम है। देखा तो यह जाता है कि कभी-कभी ही नहीं बहुधा ही ऐसे लेखकों को अनुसन्धान का कार्य करने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। हिन्दी में यह कठिनाई बहुत अधिक है क्योंकि हिन्दी में कैसे भी लेखक को बहुत शीघ्र मान्यता मिल जाती है, और दो पंक्तियाँ लिख लेने वाला भी अपने को किसी भी महापण्डित से कम नहीं समझता।

ग्रन्थ-लेखन अथवा निबन्ध-लेखन तथा अनुसन्धान-प्रबन्ध में सबसे बड़े दो अन्तर हैं—एक तो लेखक की अभिरुचि और उसके अभिमत को व्यक्त करता है, तो दूसरा विषय के स्वरूप को स्पष्ट करता है। एक लेखक के ज्ञान की सीमा को प्रकट करता है तो दूसरा विषय की प्रामाणिकता बताता है। एक में लेखक जितना कुछ दे सकता है दे डालता है, दूसरे में समग्रता और सम्पूर्णता पर दृष्टि रहती है। एक में लेखक का व्यक्तित्व प्रधान रहता है, दूसरे में विषय। इन भेदों के कारण साधारण लेखक को शोध-प्रबन्ध लिखने में बहुत कष्ट होता है। उसे तो अभ्यास रहा है कि चाहे जो कुछ चाहे जैसे लिखकर छपवा दिया जाय। उसे अभ्यास रहा है कि विषय को इधर-उधर की चिकनी-चुपड़ी बातों से रोचक बनाया जाय। भाषा के चमत्कार से शैली का जादू पैदा किया जाय। किसी बात का प्रमाण हो या न हो यदि वह उसे मानता है और विश्वास करता है तो उसे लिख दिया जाय। कारण यह है कि

साधारण लेखक का धर्म तो लिखना है पर अनुसन्धान-प्रबन्ध का लेखक प्रत्येक शब्द और प्रत्येक पंक्ति को पूर्णतः प्रमाण के साथ लिखता है और उसे परिपूर्णता के साथ लिखता है। प्रबन्ध-लेखक का धर्म है कि वह जो लिखे उसमें न तो कुछ अनावश्यक और व्यर्थ सामग्री हो, न शब्द और वाक्यों का ही अपव्यय हो। इसलिए प्रबन्ध-लेखक का कार्य बड़े उत्तरदायित्व का है। यह कार्य परिश्रम और धैर्य की अपेक्षा रखता है और नीरस होता है।

इसके साथ ही यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है कि अनुसन्धित्सु का एक मात्र आग्रह सत्य का ही प्रतिपादक हो, अपने मत अथवा रुचि का आरोप न हो। अनेक अनुसन्धित्सुओं में ऐसा आग्रह दिखाई पड़ता है, और इससे अनुसन्धान का स्वरूप भ्रष्ट हो जाता है। कितने ही विद्वानों ने भारत में भक्ति का उद्‌गम ईसाई धर्म के प्रभाव से सिद्ध करने की चेष्टा की। यह चेष्टा भ्रामक ही थी, सत्य का प्रतिपादन नहीं। यह लेखक के अपने एक ख्याल को सिद्ध करती थी। इतिहास के क्षेत्र में तो ऐसे अनेकानेक दुराग्रह दिखाई पड़ जायँगे। साहित्य-शोध में भी कितने ही कवियों की जाति के विषय में खींचतान से भी ऐसे असत्य को देखा जा सकता है। अनुसन्धान न तो किसी आग्रह को लेकर हो सकता है, न किसी अहंकार के आधार पर हो सकता है, न भावुकता के आवेश में। किसी भी क्षेत्र का अनुसन्धान पूर्णतः शुद्ध बुद्धि से किया जाना चाहिए। यह शुद्ध बुद्धि सबसे अधिक आवश्यक है। इसके अभाव में अनुसन्धान का मूल्य कुछ भी नहीं रहता।

सभी जानते हैं कि किसी भी प्रबन्ध में सामग्री और अभिव्यक्ति दो तत्त्व होते हैं। अनुसन्धानकर्त्ता सामग्री को सबसे अधिक महत्त्व देता है। सामग्री में वह दो बातें देखता है। एक, प्रत्येक वस्तु प्रामाणिक है और दूसरे यह कि वह पूर्ण है, कोई भी बात छूट नहीं गई। प्रामाणिकता उसे सिद्ध करनी होती है। इसे सिद्ध करने के लिए उसे अन्तस्साक्ष्य और बहिस्साक्ष्य की छानबीन करनी पड़ती है। यथासम्भव कोई भी बात

अनुमान मात्र के आधार पर नहीं होनी चाहिए। यदि अनुमान का आश्रय लेना पड़े तो भी यथासम्भव वह प्रामाणिक आधारों पर होना चाहिए। उसे वस्तु-सम्बन्धी समस्त तथ्यों को प्रस्तुत कर देना चाहिए, जो उपलब्ध हैं और प्रामाणिक हैं। यदि उनसे कोई अनुमान लगाया जा सकता हो तो वह अनुमान प्रामाणिक कोटि का होगा। यदि कई अनुमान लगाये जा सकते हैं तो उन सब की भी, विशेष सम्भावना की दृष्टि से, परीक्षा कर लेनी पड़ेगी। ऐसा अनुमान लगाना भी वहीं ठीक है जहाँ उसके सम्बन्ध में यथार्थ तथ्य न विदित हो, यदि आप अपने पूर्ण अध्ययन के अभाव के कारण उस तथ्य को नहीं पाते और अनुमान से काम लेते हैं तो आपका सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाता है, उदाहरण के लिए मान लीजिए एक शोध-प्रबन्ध में यह लिखा गया है—

दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता में तानसेन की जाति के विषय में लिखा है—'सो तानसेन बड़ी जाति बारे हुते।' बड़ी जाति से द्विज का संकेत मिलता है। किन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि तानसेन के अपने धर्म-परिवर्तन के कारण संकोचवश उनकी ब्राह्मण जाति का स्पष्ट उल्लेख न कर उन्हें केवल बड़ी जाति का ही बताकर सन्तोष कर लिया है। यह कथन मात्र ही इस प्रबन्ध के समस्त गौरव को नष्ट कर देता है। क्योंकि समस्त अनुमान निराधार है। बड़ी जाति से द्विज का संकेत मिलता है क्यों और कैसे? यह सिद्ध करने के लिए कि बड़ी जाति से द्विज का संकेत लिया जा सकता है, लेखक को इस बड़ी जाति शब्द के अन्य प्रयोगों को ढूँढ़ना चाहिए था। दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता की प्रवृत्ति को समझना चाहिए था, उसी में कहीं अन्यत्र इस शब्द का प्रयोग हुआ हो तो उसे देखना चाहिए था, और उन सबका संक्षिप्त उल्लेख करना चाहिए था। तब कहीं वह इस अनुमान को प्रामाणिक कोटि में ला सकता था। यदि इस अनुसन्धित्सु ने दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता को इस दृष्टि से खोजा होता तो उसे 'बड़ी जाति' शब्द का प्रयोग और भी मिल जाता। उदाहरणार्थ, यह प्रयोग ८९वीं वैष्णवन की

वार्ता में ही आया है, और अनुसन्धित्सु को इस अन्तस्साक्ष्य के साथ बहिस्साक्ष्य में स्वर्गीय राधाकृष्ण दास की भक्त नामावली भी देखनी चाहिए थी। यह ना० प्र० सभा 'काशी' से १९०१ ई० में प्रकाशित हो चुकी है। इसमें उल्लेख है—श्री गिरधर जी के समय तक सेवा में सब लोग संस्कृत बोलते थे। अब प्राय: ब्रजभाषा बोलते हैं। विधर्मियों का नाम सेवा के समय नहीं लेते। गाजीपुर को गुलाब का गांव, मिर्जापुर को मिर्च का गांव, मुसलमानों को बड़ी जाति, कृस्तानों को टोपी वाले आदि कहते हैं। इस प्रकार बड़ी जाति के अर्थ को अनुमान के द्वारा निर्धारित करना अप्रामाणिक और भ्रामक हो गया। इसके लिए जिस स्थिति की कल्पना लेखक ने की वह और भी उपहास्यास्पद हो गई। वार्ताकार में धर्म-परिवर्तन के कारण संकोच की स्थिति केवल लेखक की कपोल-कल्पना मात्र रह जाती है। यद्यपि यदि पहला अनुमान ठीक हो तब भी इस संकोच को सिद्ध करने के लिए उसे पुनः ऐतिहासिक और वार्ता-गर्भित साक्ष्य और प्रमाण देने की आवश्यकता थी कि क्या अन्यत्र भी ऐसा संकोच मिलता है। इस एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुसन्धित्सु को कोई भी अनुमान करने में जल्दी नहीं करनी चाहिए। प्रत्येक अनुमान को पुष्ट करने के लिए उसे पूरी सामग्री देनी चाहिए। कोई भी कथन अप्रामाणिक और अपुष्ट न होना चाहिए। और अध्ययन के अभाव में किए गए ऐसे अनुमान तो और भी अक्षम्य हैं, उनसे भ्रम नहीं फैलता भ्रम की एक परम्परा बनती चली जाती है। जैसे, किसी भी वार्ता में सूरदास का जन्मस्थान 'रुनकता' नहीं लिखा हुआ। किन्तु एक विद्वान् ने उनकी जन्मभूमि 'रुनकता' लिख दी है और वह भ्रम आज भी चल रहा है। यहाँ तक कि आज के नवीनतम नये इतिहास-ग्रन्थ में भी लिखा मिलता है कि चौरासी वैष्णवन की वार्ता के अनुसार इनका जन्मस्थान 'रुनकता' या 'रेणुका' क्षेत्र है। इस भ्रम की परम्परा का अन्त क्या कभी हो सकता है? शोध-प्रबन्धों का महत्त्व ही इस बात में है कि उनकी प्रत्येक पंक्ति सप्रमाण हो, प्रत्येक कथन युक्ति-

युक्त हो। ऊपर जिस प्रकार के प्रबन्ध का उल्लेख किया गया है, यदि ऐसा प्रबन्ध कोई लिख दे तो उसका लेखक विद्यार्थी ही प्रमाद का दोषी नहीं होगा, उसके सुपरवाइज़र-प्रोफ़ेसर के विषय में भी यही कहा जा सकेगा कि उन्होंने विद्यार्थी को भली प्रकार परामर्श नहीं दिया और ध्यानपूर्वक कथनों का पर्यवेक्षण नहीं किया। यह भी कहा जा सकता है कि सम्भवतः उन्हें स्वयं शोध-विधियों का पता न होगा। परीक्षक यदि ऐसे प्रबन्ध को स्वीकार कर लेंगे तो वे भी प्रमाद के दोष से बच नहीं सकेंगे। यह एक गम्भीर स्थिति है जिसको सँभालने की अत्यन्त आवश्यकता है अन्यथा हिन्दी के स्कॉलरशिप का ही ह्रास नहीं होगा, भ्रामक और मिथ्या बातों से हमारा साहित्य भर जायगा। शोध में मनमानी अटकलें नहीं लगाई जा सकतीं, प्रत्येक कथन साक्षी और प्रमाण से सिद्ध होना चाहिए। प्रमाण में जो साक्षी दी जाय वह भी प्रामाणिक होनी चाहिए। फलतः यह आवश्यक है कि किसी भी अनुसन्धान के सुपरवाइज़र को प्रबन्धों के सम्बन्ध में प्रमाद नहीं करना चाहिए। उसको प्रत्येक शब्द, और वाक्य को तोलना चाहिए। उसे सामग्री की पूर्णता के विषय में भली प्रकार आश्वस्त हो लेना चाहिए। विवेचन और युक्ति-क्रम तथा प्रमाणों की समीचीनता में कोई सन्देह नहीं रहने देना चाहिए। हमने बड़े-बड़े प्रतिष्ठित विद्वानों को, जो अपने अनुसन्धान विषय के शिरोमणि हैं, यह कहते सुना है, कि बिना अंग्रेज़ी के सम्यक् ज्ञान के अनुसन्धान का स्वरूप सुरक्षित नहीं रह सकता। ऐसा वे उन अनुसन्धानों के परिणाम को देखकर कहते हैं, जो अंग्रेजी के ज्ञान से रहित विद्वानों ने प्रेषित किए हैं। उनमें उन्हें अनुसन्धान के स्वरूप का स्पष्ट ह्रास दिखाई पड़ता है। हिन्दी के अनुसन्धित्सुओं का यह राष्ट्रीय दायित्व भी है कि वे हिन्दी के अनुसन्धान को बहुत ऊँचा स्तर प्रदान करें और इसमें करुणा और दया का दुरुपयोग न करें।

सामग्री-संकलन—इस दृष्टि से सामग्री-संकलन का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है। सामग्री-संकलन से पूर्व इस बात का भी ज्ञान

होना चाहिए कि वह सामग्री मिलेगी कहाँ। साहित्यिक अनुसन्धान में साहित्यिक सामग्री का क्षेत्र ही महत्त्व रखता है, किन्तु साहित्यिक अभिव्यक्ति के साथ जीवन और परिस्थितियों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। फलतः अन्य क्षेत्र की वस्तुएँ भी उपयोगी हो सकती हैं। इस दृष्टि से सामग्री-संकलन के योग्य क्षेत्र को अनिवार्य और उपयोगी इन दो विभागों में विभाजित करके दोनों से सामग्री संग्रह करनी होगी। ठीक-ठीक सामग्री उपलब्ध हो जाने से ही अनुसन्धान पूर्ण और सफल माना जा सकता है।

सामग्री-संकलन की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है कि उस विषय की सम्पूर्ण सामग्री एकत्र हो जाय। सामग्री के संकलन का क्षेत्र दो प्रकार का हो सकता है। एक साधारण और दूसरा विशिष्ट। दूसरी दृष्टि से सामग्री-संकलन का क्षेत्र प्रकाशित साहित्य तथा हस्तलिखित साहित्य, इन दो प्रकारों में बाँटा जा सकता है। इसी प्रकार में मौखिक साहित्य नाम का तीसरा भेद भी सम्मिलित होगा, प्रकाशित साहित्य तो साधारण वर्ग में माना जायगा। शेष हस्तलिखित तथा मौखिक विशिष्ट वर्ग का होगा। तीनों क्षेत्रों से सामग्री-संकलन करने की प्रणाली में बहुत भेद है। अनुसन्धित्सु को उसके लिए पूरी तरह तैयारी करनी चाहिए कि वह अपने क्षेत्र से भली प्रकार सामग्री प्राप्त कर सके। इन तीनों क्षेत्रों से सामग्री एकत्र करने की विधियों का सम्यक् ज्ञान भी उसे होना चाहिए। प्रकाशित साहित्य को उपलब्ध करना किंचित सरल है क्योंकि प्रकाशित साहित्य की इतनी प्रतियाँ प्रकाशित होती हैं कि वह कहीं न कहीं मिल ही सकती हैं, विशेषतः पुस्तकालयों में अथवा लेखकों के संग्रहालयों में उन्हें पाया जा सकता है। किन्तु फिर भी जितना सरल प्रतीत होता है वस्तुतः है नहीं।

हस्तलिखित पुस्तकों की खोज और उन्हें जुटाने का कार्य तो एक विशेष योग्यता चाहता है। इससे भी अधिक योग्यता की अपेक्षा होती है मौखिक साहित्य के संकलन के लिए। इस विषय में जितनी सामग्री संकलित हो रही है वह उचित वैज्ञानिक साधनों के अभाव में पूरी प्राशा-

रिणकता नहीं पा सकती। ऐसे साधनों का जुटाना अत्यन्त आवश्यक है।

विषय—किन्तु एक बात तो सामग्री-संकलन से पूर्व ही होती है, वह है विषय का निर्वाचन। विषय चुनने पर सबसे अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। विषय ऐसा होना चाहिए जो अनुसन्धित्सु की प्रवृत्ति के अनुकूल हो; ऐसा होना चाहिए जो अनुसन्धान की अपेक्षा रखता हो; ऐसा होना चाहिए जिसके लिए आवश्यक सामग्री जुटाई जा सके; ऐसा होना चाहिए जिसके अनुसन्धान से गौरव-प्रद देन की सम्भावना हो तथा जिसमें किसी न किसी रूप अथवा प्रकार की मौलिकता हो। ये विषय विवरणात्मक भी हो सकते हैं तथा विचारात्मक भी। दोनों से मिलकर भी हो सकते हैं। विवरणात्मक मुख्यतः तथ्य-प्रधान होते हैं। इनका काम होता है किसी अज्ञात तथा अप्रकट वस्तु का उद्धार कर उसे समस्त वस्तु-स्थिति में यथास्थान नियोजित करना। तथ्य-प्रधान अनुसन्धान का कार्य त्रुटिपूर्ण तथ्य की अवस्था को भी ठीक करना होता है।

विचारात्मक कोटि के निबन्धों की देन तथ्यों की व्याख्या अथवा विचार-सारिणी में नवीन दृष्टि देना अथवा अब तक की विचार-दिशा में हुए प्रयत्न से ऊपर की विचार-स्थिति को उद्‌घाटित करना होता है।

आज जो विषय दिये जाते हैं, उनमें इन दोनों दृष्टियों का स्पष्टीकरण नहीं रहता। विषय यों ही बिना किसी विधिवत् प्रणाली के चुन लिए जाते हैं। परस्पर विश्वविद्यालयों में विषयों के चुनाव की दृष्टि से सहयोग होना चाहिए। प्रत्येक विश्वविद्यालय के पास प्रत्येक अन्य विश्वविद्यालय के उन विषयों की सूची होनी चाहिए, जिन पर अनुसन्धान अथवा शोध हो रही है। वस्तुतः विषय का चुनाव विभाग की सहायता से ही होना चाहिए। विद्यार्थी पर ही विषय का निर्वाचन नहीं छोड़ देना चाहिए।

प्रबन्ध-सारिणी—विषय का निर्वाचन हो जाने के उपरान्त प्रबन्ध की उचित सारिणी अथवा अनुसन्धान की योजना प्रस्तुत की जानी चाहिए। यह योजना सूझबूझ वाले किसी विद्वान् के परामर्श से होनी

चाहिए। इसी सारिणी के साथ सम्यक् पुस्तकों, यात्रा करने योग्य स्थानों, परामर्श देने योग्य विद्वानों की सूची भी प्रस्तुत हो तो अच्छा है।

प्रबन्ध-विषय—अनुसन्धान के प्रबन्ध के विषय भाषा और साहित्य दोनों से ही घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले हो सकते हैं। भाषा की दृष्टि से विषयों के कई प्रकार हो सकते हैं—

(१) शब्द सम्बन्धी;

(२) पद सम्बन्धी व वाक्य सम्बन्धी, व्याकरण विषयक; और

(३) शैली विषयक।

शब्दों पर हिन्दी में अभी बहुत कम अनुसन्धान हुआ है, ऐसा अनुसन्धान जो मौलिक कहा जा सके। एक तो, शब्दों का भाषा-ज्ञान का अध्ययन जिसमें हिन्दी के प्रत्येक शब्द का अथवा कुछ विशेष शब्दों का ऐसा वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है।

दूसरे, शब्दों का साहित्यिक सौष्ठव जिसके अन्तर्गत शब्दों की विविध योग्यताओं पर विचार किया जाय। उनके आलंकारिक प्रयोगों की भूमि का विश्लेषण हो। शब्द-शक्तियों का अध्ययन भी इसी के अन्तर्गत होगा।

तीसरे, विविध प्रमुख कवियों की शब्द सम्पन्नता का अध्ययन हो।

चौथे, लोक और जनपदप्रचलित शब्दों का संकलन उनकी व्याख्या और अध्ययन। ऐसा अध्ययन तो कुछ रिसर्च स्कालरों ने आरम्भ किया है। किन्तु यह अत्यन्त विस्तृत पैमाने पर होना चाहिए। इसमें भी तीन अवस्थायें दिखाई पड़ती हैं—

(१) जनपद अथवा क्षेत्र विशेष के शब्दों का अध्ययन;

(२) हिन्दी के विविध जनपदों की ऐसी शब्द-सामग्री का तुलनात्मक अध्ययन; और

(३) ऐसे जनपदीय शब्दों में साहित्यिक योग्यता और उसकी सम्भावना।

डा० उदयनारायण तिवारी अथवा डा० बाबूराम सक्सेना के जैसे

अध्ययन प्रस्तुत किये हैं वैसे अध्ययन भी अत्यन्त आवश्यक हैं। इसके बाद तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत होने चाहिएँ।

भाषा के अध्ययन की ओर स्कॉलरों की बहुत कम प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इसको प्रोत्साहन देना चाहिए।

राष्ट्रभाषा की दृष्टि से हिन्दी का शब्द-कोष प्रस्तुत करना भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है पर वह किसी एक रिसर्च स्कॉलर के वश की बात नहीं, उसे तो किसी विशिष्ट संस्था को ही सौंपा जा सकता है।

हिन्दी की जनपदीय भाषाओं और हिन्दी-भाषा के स्तर, उसके विविध रूपों के व्याकरणों और उन्हें तुलनात्मक अध्ययन की भी आवश्यकता है।

शैली विषय को तो भाषा से भी कम स्पर्श किया गया है। कहीं-कहीं प्रसंगवश शैली पर अथवा शैलियों पर भले ही विचार किया गया होगा किन्तु एक महत्त्वपूर्ण पृथक् विषय की दृष्टि से इस पर कुछ भी विचार नहीं किया गया।

साहित्य के दो रूप आज स्पष्ट हैं—एक, लोक-साहित्य के नाम से अभिहित होता है। दूसरा, शेष साहित्य जिसे लोक की अपेक्षा से शिष्ट साहित्य कहा जाता है।

लोक-साहित्य का विशद क्षेत्र अब भी बाट जोहता पड़ा हुआ है और संकलन तथा वैज्ञानिक अध्ययन की अपेक्षा रखता है, किन्तु लिखित अथवा शिष्ट साहित्य में भी अनुसन्धान के लिए पर्याप्त गुंजाइश है। अभी ठोस कार्य इस क्षेत्र में भी हुआ कहाँ है। हस्तलिखित पुस्तकों की खोज की रिपोर्टों से ऐसे कितने ही महाकवियों का ज्ञान होता है जिनकी रचनायें तक प्रकाश में नहीं आईं। ऐसे महाकवियों को अनुसन्धान का विषय बनाना चाहिए। फिर सूर, तुलसी जैसे महाकवियों पर भी सभी दृष्टियों से विचार कहाँ हो चुका है। अभी तो प्रत्येक कवि पर विशेष अध्ययन की गुंजाइश है। कवियों के विशेष विषयों अथवा प्रवृत्तियों पर अभी तक कितना काम हुआ है। साहित्य का जो अंश जीवन्त जीवन

से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है उसे अनुसन्धान का विषय अभी तक कहीं बनाया गया है। (थॉट लेवल) विचार-स्तर की न तो यथार्थ परख ही की गई है, न उसमें आगे कुछ देन देने का उद्योग। जो एकाध चेष्टायें हुई हैं, उनमें दम्भ अधिक है यथार्थ देन उनमें नहीं के बराबर है। सैद्धान्तिक विषयों को भी अधिक प्रायः कम ही लिया गया है।

किसी ग्रन्थ का वैज्ञानिक संशोधनपूर्वक संपादन भी एक महत्त्वपूर्ण विषय माना जाना चाहिए। इस दिशा में बहुत कम और बहुत छोटे उद्योग हुए हैं।

हमारी अब तक की शोधों के कुछ अभाव

(१) विश्व स्तर से संपर्क नहीं।

(२) परस्पर विश्वविद्यालयों में सहयोग नहीं।

(३) विषयों के चुनाव ठीक नहीं।

(४) अनुसन्धित्सु वैज्ञानिक शोध की विधियों से अपरिचित हैं।

(५) प्रबंध को प्रस्तुत करने की विधि से भी अपरिचित हैं।

(६) न तो विषय का समस्त रूप प्रस्तुत होता है, न प्रत्येक कथन की प्रामाणिकता ही निर्विवाद रहती है।

इन समस्त बातों को ध्यान में रखते हुए सबसे पहली आवश्यकता तो यह है कि समस्त हिन्दी-विभागों के पूर्ण सहयोग से एक त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित की जाय। जिसमें—

(१) अनुसन्धान के वैज्ञानिक सिद्धान्तों की चर्चा हो।

(२) विश्व-साहित्य की अनुसन्धान-प्रगति का विवरण हो।

(३) हिन्दी में स्वीकृत अब तक की समस्त थीसिसों की संक्षिप्तियाँ रहें।

(४) स्वीकृत योजनाओं की रूप-रेखायें प्रकाशित की जायें।

(५) प्रेषित होने वाले प्रबन्धों के कुछ अंश (अध्याय) प्रकाशित किये जायें, जिन्हें इस पत्रिका का विद्वन्मण्डल ठीक करके अनुसन्धित्सु को दिखाकर प्रकाशित करें।

दूसरी आवश्यकता यह है कि भारत के समस्त विश्वविद्यालयों के हिन्दी-अध्यक्षों की एक बैठक बुलाकर एक 'उच्चस्तरीय आलोचक-मण्डल' की स्थापना की जाय। यह आलोचक मण्डल प्रत्येक प्रेषित और स्वीकृत थीसिस को ध्यानपूर्वक देखकर, उसमें रह जाने वाली कमियों के विषय में एक निजी और गोपनीय निर्देशन विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष के पास भेजे, जिससे विभागाध्यक्ष यह चेष्टा कर सकें कि भविष्य के प्रबन्धों में वैसी त्रुटियाँ न रहें। अमेरिका में संभवतः ऐसे मण्डल हैं, जिनका सम्बन्ध किसी उच्चकोटि की शोध-पत्रिका से होता है। इनमें अनुसंधान विषयक निबन्ध ही प्रकाशित होते हैं, जो बहुधा शोध-प्रबन्धों के अध्याय ही होते हैं। ऐसे निबन्ध के स्तर से संपादक यदि संतुष्ट होते हैं तो उसे यथोचित परिमार्जन के उपरांत पत्रिका में स्थान दे देती हैं। उस पत्रिका में निबन्ध का प्रकाशित होना निबन्ध की प्रामाणिकता के लिए प्रमाणपत्र का काम करता है। यदि वे संतुष्ट नहीं होते तो भी उसे परिश्रम-पूर्वक वे ठीक करते हैं, और उसको स्तर पर लाकर अनुसंधित्सु को लौटा देते हैं जिससे वह आगे सँभल जाता है।

तीसरी आवश्यकता यह है कि प्रत्येक विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के लिए संस्थान होने चाहिएँ—एक सामग्री-सुविधा प्रदायक, इसका यह धर्म होगा कि यह देखे कि जो विषय विश्वविद्यालय में अनुसंधान के लिए स्वीकृत होता है, उस विषय सम्बन्धी सामग्री उस अनुसंधित्सु को प्राप्त हो सके। यह संस्थान कहाँ-कहाँ सामग्री प्राप्त हो सकती है इस सबकी व्यवस्था करेगा। दूसरा संस्थान शोध-प्रगति संशोधक होगा। प्रत्येक शोध और अनुसंधान की मासिक-त्रैमासिक प्रगति का विस्तृत ब्योरा इसके समक्ष प्रस्तुत किया जायगा, यह अनुसन्धित्सु को बुलाकर उसके कार्य के स्वरूप को देखेगी और उचित परामर्श देगी। अन्य विभागों से भी आवश्यक सहयोग का आयोजन करेगी।

चौथी आवश्यकता यह है कि किसी विषय को स्वीकृत करने से

पूर्व विश्वविद्यालय यह सन्तोष कर लेगा कि जिस महाविद्यालय से शोध का विषय प्रस्तावित हुआ है, वह किस सीमा तक उसमें सहायता पहुँचाने के योग्य है।

पाँचवीं आवश्यकता यह है कि एक वर्ष प्रारम्भिक शोध के लिए रहना चाहिए। इसके लिए किसी प्रकार की बाधा नहीं रहनी चाहिए। प्रत्येक हिन्दी-विभाग को छूट रहे कि वह जो चाहें उन्हीं को अपने यहाँ प्रारम्भिक शोध की सुविधायें दे। इन प्रारम्भिक शोधकर्त्ताओं में से जिनमें यथार्थतः अनुसंधित्सु होने के लक्षण और प्रतिभा विदित हो, उन्हें आगे अनुसन्धान का दायित्व योग्य विषय देकर दिया जाय।

(छठवीं आवश्यकता यह भी विदित होती है कि प्रत्येक विश्वविद्यालय एक विशेष विषय में ही अनुसन्धान विषयक विशेषता प्राप्त कर ले, और उस विषय के अनुसन्धित्सु को उसी विश्वविद्यालय में अनुसन्धान के लिए प्रविष्ट कराया जाय—जैसे प्रयाग विश्वविद्यालय 'पाठ-संशोधन' विषय में विशेषता प्राप्त करे, काशी विश्वविद्यालय—प्राचीन काव्य में आदि आदि।)

(प्रत्येक अनुसन्धान-कार्य के लिए तीन योग्यताएँ अवश्य देख लेनी चाहिएँ—

(१) योग्य अनुसन्धित्सु—प्रतिभाशाली, अत्यन्त धैर्यशाली, परिश्रमशील तथा जिज्ञासावान।

(२) योग्य संस्था—सामग्री प्रचुर हो, सामग्री का प्रबन्ध करा सके, अनुसन्धान योग्य वातावरण हो।

(३) योग्य अधीक्षक—विषय से परिचित, विधि का ज्ञाता और सहृदय।

(प्रबन्ध के सम्बन्ध में दो बातें ध्यान रखने योग्य हैं—

(१) प्रत्येक कथन प्रमाण-पुष्ट हो।

(२) अपनी सीमा में विषय अत्यन्त पूर्ण हो।)

अन्त में एक बात कहना अत्यन्त आवश्यक है, वह यह है कि इस

निबन्ध में आरम्भ में जो कहा गया है उससे ऐसी धारणा हो सकती है कि हिन्दी में अब तक जो कार्य हुआ है, वह सब थोथा और व्यर्थ है। उसमें कुछ भी नहीं—किन्तु ऐसी बात नहीं। वस्तुस्थिति तो वह है जो ऊपर दी गई है, फिर भी इसी वस्तुस्थिति की अड़चनों और असुविधाओं में से प्रतिभाशाली अनुसन्धित्सुओं ने बड़ी महत्त्वपूर्ण देन वाले प्रबन्ध प्रस्तुत किए हैं। जिनसे हिन्दी का मस्तक ऊँचा हुआ है, और जो किसी भी विश्वविद्यालय के लिए गर्व का कारण हो सकते हैं।

१२

हिन्दी में अनुसन्धान-कार्य

डा० हरवंशलाल शर्मा

एम. ए., पी.-एच. डी.

अध्यक्ष हिन्दी-संस्कृत विभाग

अलीगढ़ विश्वविद्यालय,

हिन्दी जगत् में शोध-कार्य अभी थोड़े ही दिनों से प्रारम्भ हुआ है, परन्तु इस अल्पकाल में ही इस क्षेत्र में जो आशातीत बाढ़ आई है वह एक ओर जहाँ हिन्दी के प्रति नवयुवकों के उत्साह की द्योतक है, दूसरी ओर उसमें कुछ घातकता के भी लक्षण प्रतीत होते हैं। नदी की बाढ़ की भाँति उसका कार्य रचनात्मक और ध्वंसात्मक दोनों ही प्रकार का है। उसको व्यवस्थित और मर्यादित करना हिन्दी के कर्णधारों का काम है। सभी विश्वविद्यालयों का योग इस ओर आवश्यक है।

जिस प्रकार समाज, धर्म और राजनीति के विभिन्न क्षेत्रों में हम कई बातों में पश्चिम के ऋणी हैं, उसी प्रकार साहित्य-जगत् में भी हमें कई प्रेरणाएँ पाश्चात्य साहित्य और विद्वानों से मिली हैं। हिन्दी में अनुसन्धान-कार्य की प्रेरणा को मैं पाश्चात्य विद्वानों की एक अनुपम देन

समझता हूं। इस पक्ष में पाश्चात्य देशों का ऋण स्वीकार करना मैं कोई हीन भावना नहीं मानता। अनुसन्धान का कार्य वैज्ञानिक कार्य है और इसमें विज्ञान के ढंग के ही विधि-विधान और दृष्टिकोण अपेक्षित हैं। शोध का मसाला जुटाना एक बात है और उसको क्रमबद्ध व्यवस्थित रूप देना दूसरी बात है। वास्तव में अनुसन्धान-कार्य के लिए तो दोनों ही पहलू बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। दूसरे पहलू पर पाश्चात्य विद्वानों का विशेष अधिकार है और वहां इसके लिए एक टेकनीक-सी बन गई है। हिन्दी भाषा का साहित्य बहुत सी बातों में संस्कृत का ऋणी है, परन्तु शोध-कार्य की नवीन दिशा में संस्कृत भाषा के लिए भी पाश्चात्य विद्वानों की उसी प्रकार की देन है जैसी हिन्दी के लिए। संस्कृत एक वैज्ञानिक भाषा है और व्याकरण की दृष्टि से संसार की सब भाषाओं में पूर्ण और व्यवस्थित है। संस्कृत में शब्दों की व्युत्पत्ति और स्वरों के उच्चारण का बड़े वैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों और प्रतिशाख्यों में अनेक स्थानों पर इस प्रकार के विवेचन हैं। (यास्क का निरुक्त भी इसी प्रकार का एक ग्रन्थ है, जिसमें शब्दों की व्युत्पत्ति का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। पाणिनीय शिक्षा और महाभाष्य भी इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं।) इन सबके देखने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भाषा और व्याकरण के क्षेत्र में भारतीय आचार्यों ने उच्च कोटि का अनुसन्धान-कार्य किया है। अन्य क्षेत्रों में भी संस्कृत-वाङ्मय के अध्ययन और अध्यापन की बड़ी व्यवस्थित प्रणाली रही है। सारे वाङ्मय का विभाजन ही बड़े वैज्ञानिक ढंग से हुआ है। वैदिक साहित्य के ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् अवान्तर भेद किए गए हैं। विषयों की सूक्ष्मता और विभिन्नता के आधार पर इन भेदों के भी और प्रभेद हैं—चार वेदों की भांति चार उपवेद हैं, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्वेद और तंत्रवेद। इस समस्त वेद-राशि के छः अंग हैं शिक्षा, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, कल्प और ज्योतिष। इन सभी विषयों पर दीर्घकालीन तपस्या और गवेषणा के अनन्तर भारतीय आचार्यों ने

ऐसे अनेक मौलिक ग्रन्थों की रचना की जो सार्वभौम और सर्वकालीन होने के कारण आज भी आर्ष ग्रन्थ कहे जाते हैं। इन्हीं ग्रन्थों पर ऐसे-ऐसे महत्त्वपूर्ण भाष्य लिखे गए हैं जो भाष्य होते हुए भी मौलिकतापूर्ण हैं। उदाहरण के लिए पतंजलि के महाभाष्य को ही लीजिए, उसमें सूत्रों के भाष्य के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न देशों की भाषाओं तथा विभाषाओं का उल्लेख मिलता है और वेद तथा लोक की भाषाओं का इतिहास भी मिलता है। ईसा की पहली शताब्दियों में काव्य-शास्त्र का विवेचन भी बड़े विस्तार से हुआ और काव्य के ग्रन्थों, रस, अलंकार, छन्द, गुण, दोष, रीति इत्यादि पर बड़े महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गए। विश्वविद्यालयों में प्राचीन भारत में कैसी पठन-पाठन प्रणाली रही होगी, इसका पूरा विवरण तो प्राप्त नहीं होता परन्तु कुछ विदेशी यात्रियों के लेखों से उत्तरकालीन परम्परा की कुछ झलक-सी अवश्य मिल जाती है। इन विश्वविद्यालयों में अनुसन्धान का कार्य किस प्रकार होता होगा, इसके विषय में कुछ कहना कठिन है। परन्तु किसी-किसी नाटक, काव्य आदि में आए हुए संवादों से यह प्रतीत होता है कि इन विद्यालयों में तद्विषयों के विशेषीकरण की प्रथा अवश्य प्रचलित रही होगी और विशेष साहित्यिक कृति के आधार पर अथवा खोज-विशेष करने पर उपाधि प्रदान की परम्परा भी रही होगी। सम्भवतः नालन्दा विश्वविद्यालय के साथ ही भारतीय शिक्षा-प्रणाली भी समाप्त हो गई और उसका पुनरुत्थान आज तक नहीं हो पाया है। १७वीं शताब्दी में नये सिरे से यूरोपीय विद्वानों का ध्यान संस्कृत की ओर आकृष्ट हुआ और वह भी साहित्य की दृष्टि से नहीं, भाषा की दृष्टि से। वह संस्कृत में पुनरनुसन्धान का सूत्रपात था। आगे चलकर यूरोप के कितने ही विद्वानों ने संस्कृत साहित्य के अध्ययन में अपना जीवन लगाया और इस दिशा में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इसीलिए संस्कृत भाषा के यत्किंचित पुनरुत्थान अथवा अनुसन्धान-कार्य के लिए हम पाश्चात्य विद्वानों के ऋणी हैं।

हिन्दी में जो अनुसन्धान-कार्य हो रहा है, उसकी कोई निश्चित

परम्परा और प्रणाली नहीं है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, इस ओर भी मार्ग-प्रदर्शन पाश्चात्य विद्वानों ने ही किया है और यहाँ भी भाषा की खोज करने वालों ने। हमारे विश्वविद्यालय यूरोप के विश्वविद्यालयों के आदर्श पर बने हैं, और शिक्षा-प्रणाली भी प्रायः हमने वही अपनाई है। जहाँ तक अनुसन्धान-कार्य का प्रश्न है, उसकी व्यवस्था भी पाश्चात्य परम्परा की एक शृंखला है। कुछ समय पहले तो आई. सी. एस. की परीक्षाओं की भाँति, शोध-कार्य करने के लिए भी हमें यूरोप ही जाना पड़ता था। परन्तु धीरे-धीरे हमारे यहाँ के विश्वविद्यालयों में भी इसका कुछ प्रबन्ध होने लगा। परन्तु खेद से कहना पड़ता है कि आज भी हम उस व्याख्या अथवा प्रबन्ध में वह पूर्णता नहीं ला पाए हैं जो यूरोप के विश्वविद्यालयों में है। हिन्दी के विषय में तो यह बात और भी विचारणीय है, इसलिए केवल इसी पक्ष को लेकर हम कुछ विचार करेंगे।

सबसे बड़ी बात जो हमारे अनुसन्धान-कार्य में खटकने वाली है, वह टेक्नीक की है, जो इस प्रासाद की नींव कही जा सकती है। हमारा विषय बड़ा रोचक और महत्त्वपूर्ण हो सकता है। सामग्री भी हम पर्याप्त जुटा लेते हैं, लेखन-कला में भी हम प्रवीण हैं, परन्तु व्यवस्थित और वैज्ञानिक ढंग से हम इन सबका उपयोग नहीं कर सकते जिससे कभी तो हम विषय की सीमा को लांघ जाते हैं और कभी बहुत सी आवश्यक बातों को उड़ा जाते हैं। इसमें दोष विद्यार्थी का इतना नहीं जितना निर्देशक का है। आज जिस प्रकार विद्यार्थियों में अनुसन्धान की धुन सवार है और वे इस धुन में अपनी अयोग्यता, समयाभाव सामग्री की अप्राप्ति-विषय की अनुपयोगिता आदि बातों को भूले रहते हैं और 'रिसर्च स्कॉलर' बनने में एक प्रकार का गौरव अनुभव करते हैं उसी प्रकार निर्देशक भी इस पद को पाने में अपना मान समझते हैं। वास्तव में निर्देशक के लिए जहाँ एक ओर विषय का विशेषज्ञ होना आवश्यक है, वहाँ दूसरी ओर उसे अनुसन्धान-कार्य की टेक्नीक का भी

पूरा परिचय होना चाहिए। इसलिए दूसरी बात जो हमारे विद्यार्थियों के मार्ग में बाधक है, वह उपयुक्त निर्देशकों का प्रभाव है। तीसरी बाधा, अनुसन्धानकर्त्ता के मार्ग में जो उपस्थित होती है, वह उपयुक्त और उपयोगी सामग्री का न मिलना है। विषय-निर्वाचन के समय तो हमारा ध्यान सामग्री की ओर नहीं जाता। उस समय तो हमारा ध्यान केवल विषय की स्वीकृति की ओर रहता है, परन्तु विषय में प्रवेश करने के अनन्तर उपयुक्त सामग्री के अभाव में वह कार्य दुस्तर प्रतीत होने लगता है। भाषा-विज्ञान जैसे विषयों के लिए तो अभी उपयुक्त यन्त्र भी हमारे विश्वविद्यालयों में नहीं हैं। साहित्यिक विषयों की सामग्री का एकत्रित करना श्रम-साध्य भी है और साध्य भी, जो किसी एक व्यक्ति के लिए बड़ा दुरूह है। सामूहिक प्रयत्नों से ही उसको एकत्र किया जा सकता है और यह तभी सम्भव है जब एक विशेष विचारधारा के विषयों का अनुसन्धान एक ही संस्था में हो। वहाँ सामग्री भी जुटाई जा सकती है और पथ-प्रदर्शन की व्यवस्था भी अच्छी हो सकती है। इस बाधा के कारण हमारे अनुसंधान कार्य में अपेक्षित पूर्णता नहीं आ पाती है। अनुसन्धान होने पर भी कोई निश्चयात्मकता, चाहे वह आपेक्षिक ही हो, विषयों में नहीं आ पाती। जैसे सूर या तुलसी का पारिवारिक विवरण, इन महात्माओं पर कई खोज-पूर्ण ग्रन्थ लिखे जाने पर भी, अभी अंधकार में है। चौथी बात जो हिन्दी के अनुसन्धान-कार्य में खटकने वाली है, वह है विषय-निर्वाचन। अनुसन्धान-कार्य के लिए तो यह पहली बात है, परन्तु साहित्यिक दृष्टि-कोण से यह बात शोध-कार्य होने पर अधिक खटकती है। विषय-निर्वाचन के समय हमारा ध्यान न तो उसकी उपयुक्तता पर ही जाता है और न उसके क्षेत्र पर ही जिसका फल यह होता है कि शोध के विषय और सामग्री में सामञ्जस्य नहीं हो पाता। इसका एक दूसरा भी पक्ष है। विभिन्न विश्वविद्यालयों के शोध-विषयों में समीकरण की उचित व्यवस्था न होने के कारण विषयों की प्रायः पुनरावृत्ति भी हो जाती है। जिन विषयों पर वास्तव में अनुसंधान होना चाहिए, उधर हमारा ध्यान भी

नहीं जाता और यों ही ऊट-पटांग भर्ती के विषय लेकर हम अपने कार्य पर जुट जाते हैं, जिससे साहित्य की वास्तविक वृद्धि में विशेष योग नहीं हो पाता। आज हिन्दी साहित्य में न जाने कितने पक्ष अछूते पड़े हैं जिन पर कार्य होना आवश्यक है। कुछ शोध-कार्य ऐसे हैं जिनमें संस्कृत या अंग्रेजी आदि भाषाओं के विषयों का ही रूपान्तर हुआ है। यदि अनुवाद की दृष्टि से रूपान्तर होता, तो सम्भवतः अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता था। आज हिन्दी में हमें एक नए और तुलनात्मक दृष्टिकोण की आवश्यकता है। नवीन मानदण्डों और नवीन प्रयोगों को हिन्दी के अनुसन्धान-कार्य में लगाना है। आज हमारी भाषा राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन है, और हम उसके अन्तर्राष्ट्रीय होने के स्वप्न देखते हैं परन्तु उसका दारिद्रय अभी खटकता है। अतुल साहित्यिक सम्पत्ति के साथ भी वह दीन है। राष्ट्रभाषा होते हुए भी वह अभी प्रान्तीयता की परिधि से बाहर नहीं। उसकी बहुमुखी उन्नति भी अभी नगण्य-सी है। अनुसंधान का कार्य तो दूर रहा, अभी तो उसमें आवश्यक संकलन और सम्पादन भी नहीं हुआ है। भाषा के स्थिरीकरण का प्रश्न भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस ओर हमें विशेष सतर्कता से काम लेना चाहिए। जिससे भाषा में कुछ सरलता भी आ जाय और उसकी मौलिकता भी नष्ट न हो तथा ध्वनि-नियमों का भी उल्लंघन न हो। इसी प्रकार पारिभाषिक शब्दों के निर्माण का कार्य भी अभी संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। उच्च कक्षा के विषयों, विशेषकर विज्ञान की पुस्तकों, का आज भी हिन्दी में अभाव है। उच्च स्तर पर सरकारी कार्य के लिए हिन्दी को असमर्थ समझा जाता है और इस दोषारोपण में कुछ सत्य भी निहित है। इसलिए इस दोष का प्रक्षालन भी होना आवश्यक है। हिन्दी में अनुसंधान का कार्य बिखरा हुआ है। उसको तुरन्त व्यवस्थित करने की आवश्यकता है और यह काम विश्वविद्यालयों का है। अनुसंधान के विषयों का विभाजन स्थानीय निर्देशकों की योग्यता और कार्य करने की सुगमता के आधार पर विभिन्न विश्वविद्यालयों में

होना चाहिए, जैसे भाषा-विज्ञान सम्बन्धी शोध-कार्य प्रयाग विश्वविद्यालय में विशेष रूप से हो सकता है। सारे विश्वविद्यालयों की एक हिन्दी अनुसंधान-परिषद् हो जो विषयों का निर्धारण और निर्देशकों तथा परीक्षकों की नियुक्ति का कार्य करे और जिसके द्वारा अनुसंधान-कार्य के लिए अन्तर्विश्वविद्यालयीय आदान-प्रदान भी हो सके। गवेषणात्मक प्रबन्धों के प्रकाशन का पूरा-पूरा प्रबन्ध होना चाहिए। नियमित रूप से एक ऐसी मासिक पत्रिका प्रकाशित होनी चाहिए जिसमें अनुसन्धान-कार्य सम्बन्धी विवरण हो तथा निष्पक्ष आलोचना और उपयुक्त सुझाव भी उस पत्रिका में हों, विशेषकर अनुसन्धान सम्बन्धी निबन्धों के लेखन-प्रकार की ओर पर्याप्त संकेत हों। ऐसा करने से हिन्दी का अनुसंधान-कार्य व्यवस्थित हो सकता है और विशेषज्ञों की योग्यता का अधिक से अधिक लाभ उठाया जा सकता है।

१३

अनुसन्धान का स्वरूप

डा० नगेन्द्र

एम. ए., डी. लिट्.

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

हिन्दी में रिसर्च के लिए अनुसन्धान, अन्वेषण, शोध तथा खोज आदि अनेक शब्दों का प्रयोग होता है। यहाँ स्थूलतः ये सभी शब्द प्रायः पर्याय ही माने जाते हैं परन्तु संस्कृत में इनके अर्थों में सूक्ष्म अंतर है। अनुसन्धान का अर्थ है परिपृच्छा, परीक्षण, समीक्षण आदि। सन्धान का अर्थ है दिशा और अनु का अर्थ है पीछे; इस प्रकार अनुसन्धान का अर्थ हुआ किसी लक्ष्य को सामने रखकर दिशा विशेष में बढ़ना—पश्चात् गमन अर्थात् किसी तथ्य की प्राप्ति के लिए परिपृच्छा, परीक्षण आदि करना। अन्वेषण का अर्थ है खोज—किसी वस्तु अथवा तथ्य को ढूंढने का प्रयत्न। गवेषणा का अर्थ भी प्रायः यही है—खोजने अथवा ढूंढ निकालने का प्रयत्न; व्युत्पत्ति-अर्थ इसका है गो का पता लगाना। शोध का अर्थ है शुद्ध करना, साफ़ करना, स्वच्छ करना, रूप देना। खोज के माने हैं ढूंढना; अज्ञात का ज्ञान करना-कराना; लापता का पता लगाना। अतएव इस प्रसंग में हमारे समक्ष तीन लक्ष्य उपस्थित होते हैं— (१) अन्वेषण अथवा गवेषणा अर्थात् अज्ञात का ज्ञापन, दूसरे शब्दों

में, लुप्त एवं गुप्त सामग्री को प्रकाश में लाना। (२) अनुसन्धान अर्थात् परिपृच्छा, परीक्षण, समीक्षण आदि; उपलब्ध सामग्री की जाँच-पड़ताल इसके अन्तर्गत आती है। (३) शोध अर्थात् शुद्ध करना—इसके अन्तर्गत आता है प्राप्त सामग्री का संस्कार परिष्कार। जिस प्रकार कोई धातु-शोधक उपलब्ध खनिज पदार्थों को स्वच्छ और शुद्ध करके हमारे सम्मुख रखता है इसी प्रकार साहित्यिक शोधकर्त्ता भी अपनी उपलब्ध सामग्री को शुद्ध करके परिष्कृत रूप में हमारे समक्ष उपस्थित करता है।

इस विवेचन के परिणामस्वरूप दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि हिन्दी में प्रयुक्त भिन्न-भिन्न शब्द संस्कृत शब्दार्थ की दृष्टि से अनुसन्धान-कार्य के भिन्न-भिन्न रूपों को व्यक्त करते हैं। अन्वेषण अथवा गवेषणा से अनुपलब्ध सामग्री को उपलब्ध करने का बोध होता है, अनु-सन्धान से परीक्षा-समीक्षा का, और शोध से विवेचन, निर्णय, निष्कर्ष-ग्रहण आदि का। और, वास्तव में अनुसन्धान-कार्य के तीन संस्थान भी ये ही हैं। दूसरी बात यह है कि ऐसी स्थिति में इस प्रसंग में एक शब्द का व्यवहार स्थिर हो जाना चाहिए और मैं समझता हूँ कि अनुसन्धान शब्द को ही व्यापक अर्थ में पारिभाषिक रूप दे देना चाहिए।

अनुसन्धान के विषय में विश्वविद्यालय भी जहाँ, यह कार्य नियमित रूप से होता है, प्रायः उपर्युक्त इन्हीं बातों पर बल देते हैं।

अनुसन्धान-ग्रन्थ को निम्नलिखित उपबन्धों की पूर्ति करनी चाहिए—

(१) इसमें (अनुपलब्ध) तथ्यों का अन्वेषण अथवा (उपलब्ध) तथ्यों या सिद्धान्तों का नवीन रूप में आख्यान होना चाहिए। प्रत्येक स्थिति में यह ग्रन्थ इस बात का द्योतक होना चाहिए कि अभ्यर्थी में आलोचनात्मक परीक्षण तथा सम्यक् निर्णय करने की क्षमता है। अभ्यर्थी को यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि उनका अनुसन्धान किन अंशों में उनके अपने प्रयत्न का परिणाम है, और वह विषय विशेष के अध्ययन को कहाँ तक आगे बढ़ाता है।

(२) निरूपण-शैली आदि की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का रूप-आकार

सन्तोषप्रद होना चाहिए जिससे कि इसे यथावत् प्रकाशित किया जा सके। (आगरा यूनिवर्सिटी पी. एच. डी. नियमावली, पृ० ४)

आगे चलकर डाक्टर ऑफ़ लैटर्स के प्रसंग में भी प्रायः इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख है। केवल एक बात नई है—वहाँ 'विषय के अध्ययन को और आगे बढ़ाने' के स्थान पर 'ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार' अपेक्षित माना गया है। डी. लिट्. की उपाधि की गुरुता को देखते हुए यह उपबन्ध उचित ही है। अन्य विश्वविद्यालयों के नियमों में भी लगभग ये ही शब्द हैं। इस प्रकार विश्वविद्यालय-विधान के अनुसार अनुसन्धान के तीन तत्त्व हैं—

(१) अनुपलब्ध तथ्यों का अन्वेषण।

(२) उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धान्तों का पुनराख्यान।

(३) ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार, अर्थात् मौलिकता।

(४) इनके अतिरिक्त एक तत्त्व और भी अपेक्षित है और वह है सुष्ठु प्रतिपादन-शैली।)

इसमें सन्देह नहीं कि सामान्यतः ये चारों ही गुण अनुसन्धान-कार्य के लिए आवश्यक हैं, परन्तु एक प्रश्न यह उठता है कि इन सबका सापेक्षिक महत्त्व कितना है अर्थात् इन चारों तत्त्वों में से किसका कितना महत्त्व है ? जहाँ तक, तीन और चार का सम्बन्ध है उनकी अनिवार्यता तो स्वतः सिद्ध ही है क्योंकि प्रत्येक अनुसन्धान-कार्य द्वारा ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार अनिवार्यतः होना ही चाहिए—तभी उसकी सार्थकता है, मौलिकता तो केवल अनुसन्धान की ही नहीं किसी भी साहित्यिक कृति अपितु जीवन के किसी भी गम्भीर कार्य के मूल्यांकन की सबसे बड़ी कसौटी है। इसी प्रकार विषय का सुष्ठु प्रतिपादन भी प्रत्येक कृति के लिए अनिवार्य ही है। हाँ, यह बात अवश्य है कि मौलिकता और शैली-सौष्ठव का स्वरूप सर्वत्र एक-सा न होकर विषय-सापेक्ष्य ही होता है। अब पहला और दूसरा तत्त्व रह जाते हैं अर्थात् अनुपलब्ध अथवा नवीन तथ्यों का अन्वेषण और उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धान्तों

का पुनराख्यान। इनका सापेक्षिक महत्त्व क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इनका सापेक्षिक महत्त्व बहुत-कुछ अनुसन्धान के विषय पर निर्भर है। यदि समग्र वाङ्मय को लें तो स्थूलतः यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक विषयों के अनुसन्धान में तथ्य का महत्त्व अधिक है और साहित्यिक विषयों के अनुसन्धान में विचार का। कुछ विषय ऐसे भी हैं जो विज्ञान और साहित्य के मध्यवर्ती हैं जैसे इतिहास और उससे सम्बद्ध नृतत्व-शास्त्र, पुरातत्व-शास्त्र आदि, समाज-शास्त्र तथा उससे सम्बद्ध अर्थ-शास्त्र, वाणिज्य-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र आदि। इनमें अनुसन्धान-कार्य की स्थिति भी मध्यवर्ती माननी चाहिए अर्थात् उसमें तथ्य और विचार दोनों का ही महत्त्व रहता है। इस प्रसंग में एक बात स्पष्ट कर लेनी चाहिए और वह यह कि उपर्युक्त विषय-विभाजन और उससे संलग्न तथ्य और विचार का अन्तर निर्भ्रान्त एवं अन्तिम नहीं है। जिस प्रकार विभिन्न विषय—विज्ञान और साहित्य आदि एक दूसरे से पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं हैं, इसी प्रकार तथ्य और विचार भी एक दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं। इस प्रकार के वर्गीकरण, विभाजन आदि में सापेक्षिक प्राधान्य ही प्रमाण रहता है।

साहित्यिक अनुसन्धान—हमारा विषय साहित्यिक अनुसन्धान ही है अतएव हम अपने विवेचन को उसी तक सीमित रखेंगे। अब तक के विवेचन से तीन बातें हमारे सामने आती हैं—

१. (क) अन्वेषण, (ख) अनुसन्धान और पुनराख्यान, (ग) मौलिकता और (घ) प्रतिपादन-सौष्ठव—अनुसन्धान के ये चार आवश्यक तत्त्व हैं।

२. विषय का और अनुसन्धान का घनिष्ठ सम्बन्ध है अर्थात् अनुसन्धान के स्वरूप पर अनुसन्धेय विषय का निश्चित ही प्रभाव पड़ता है। अनुसन्धान का कोई निरपेक्ष अथवा सर्व-सामान्य स्वरूप नहीं है, और परिणामतः अनुसन्धाता के लिए प्रत्येक स्थिति में कोई एक दृष्टिकोण निर्धारित कर देना सम्भव नहीं है। द्रष्टा को अपने विषय में से ही

दृष्टि प्राप्त करनी होगी। एक ही दृष्टि से सभी विषयों का निरीक्षण-परीक्षण करना असंगत होगा।

३. अतएव अनुसन्धान-कार्य में अन्वेषण, आख्यान, मौलिकता और प्रतिपादन-सौष्ठव का स्वरूप एक-सा नहीं है। वह विषय के अनुसार बदलता रहता है।

इन्हीं मान्यताओं के आधार पर साहित्यिक अनुसन्धान का स्वरूप-विश्लेषण करना समीचीन होगा। अस्तु।

अन्वेषण

जैसा कि मैंने ऊपर स्पष्ट किया है, अन्वेषण का अर्थ है खोज। साहित्य में अन्वेषण के कई अर्थ और कोटियाँ हो सकती हैं—

१. अज्ञात का ज्ञान—अज्ञात लेखकों तथा ग्रन्थों आदि का अन्वेषण इसके अन्तर्गत आता है। अज्ञात लेखकों और ग्रन्थों से तात्पर्य ऐसे लेखकों और ग्रन्थों से है जिनका अस्तित्व अभी तक अज्ञात है।

२. अनुपलब्ध की उपलब्धि—इसके अन्तर्गत ऐसी सामग्री का अन्वेषण आता है जिसके अस्तित्व के विषय में तो ज्ञान है, पर जो साधारणतः प्राप्त नहीं है। हिन्दी में इस प्रकार के अन्वेषण के लिए असीम क्षेत्र है।

३. उपलब्ध का शोधन —नवीन तथ्यों के अन्वेषण द्वारा प्रचलित तथ्यों का संशोधन इसके अन्तर्गत आता है। उदाहरण के लिए तुलसी, सूर आदि के जीवनचरित के विषय में इस प्रकार का संशोधन निरन्तर होता रहा है और कदाचित् उसके लिए और भी अवकाश है। इसके अतिरिक्त पाठाध्ययन, पाठ-संशोधन, संपादन भी इसी कोटि में आते हैं।

४. विचार या सिद्धान्त का अन्वेषण—किसी विचार-परम्परा का विकास-क्रम निर्दिष्ट करना इस कोटि में आता है।

५. शैली या रूप-विधान-विषयक अन्वेषण—यों तो शैली या

रूप-विधान विचार अथवा दृष्टिकोण का ही प्रतिबिम्ब होता है और इस दृष्टि से यह रूप मूलतः विचार-विषयक अन्वेषण से भिन्न नहीं है, फिर भी साहित्य में शैली या रूप-विधान का स्वतन्त्र महत्त्व होने के कारण इसे पृथक् मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। और, साहित्य में निस्संदेह इस प्रकार के अन्वेषण का महत्त्व है। उदाहरण के लिए पं० पद्मसिंह शर्मा ने संस्कृत-प्राकृत से शृंगार-मुक्तक परम्परा का उद्घाटन कर बिहारी सतसई अथवा अन्य शृंगारिक मुक्तक काव्यों के व्याख्यान में, और इधर राहुल जी ने स्वयम्भू-रामायण आदि के साथ रामचरितमानस की शैली का सम्बन्ध स्थापित कर मध्ययुगीन चरित-काव्यों के अध्ययन में एक नवीन अध्याय जोड़ दिया है।

६. साहित्यिक अनुसन्धान में अन्वेषण का एक प्रकार और भी होता है : वह है भाव, प्रसंग अथवा प्रबन्ध-कल्पना-विषयक अन्वेषण। इसके अन्तर्गत अन्वेषक इस बात की खोज करता है कि परवर्ती कवि या लेखक भावाभिव्यंजना अथवा प्रसंग-विधान में अपने पूर्ववर्ती कवियों के कहाँ तक ऋणी हैं। कुंतक ने कवि की दृष्टि से इस प्रकार की मौलिक नियोजनाओं का वर्णन प्रकरण-वक्रता अथवा प्रबन्ध-वक्रता के अन्तर्गत किया है। प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता से सम्बद्ध अन्वेषण साहित्य-शोधक के लिए विशेष महत्त्व रखता है। परन्तु कदाचित् इसे अन्वेषण का एक स्वतन्त्र रूप न मानकर अंशतः विचार-सम्बन्धी अन्वेषण और अंशतः शैली-सम्बन्धी अन्वेषण के अंतर्गत ही मान लेना अधिक समीचीन होगा।

आख्यान तथा पुनराख्यान

आख्यान का अर्थ है व्याख्या करना, स्पष्टीकरण करना, निहित अर्थ को विहित करना। तथ्य अथवा तथ्यों के आख्यान का अर्थ है उनके पारस्परिक सम्बन्धों को व्यक्त करना, दूसरे शब्दों में तथ्यों को विचार में परिणत करना; नवोपलब्ध तथ्य का आख्यान, और पूर्वोपलब्ध तथ्य का पुनराख्यान

होता है। साधारणतः सभी प्रकार के अनुसन्धान-कार्य के लिए और विशेषतः साहित्यिक अनुसन्धान-कार्य के लिए आख्यान अथवा पुनराख्यान का अनिवार्य महत्त्व है क्योंकि तथ्य अपने आप में इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं – वास्तविक महत्त्व तो उनके पारस्परिक सम्बन्ध-ज्ञान का है। उद्योग के क्षेत्र में वस्तु या तथ्य का महत्त्व कितना ही हो, परन्तु ज्ञान के क्षेत्र में तो ज्ञान का ही महत्त्व हैं। प्रस्तुत प्रसंग में भी, जहाँ अनुसन्धान का मूल लक्ष्य है ज्ञान का सीमा-विस्तार, वास्तविक महत्त्व निस्संदेह ही ज्ञान का है क्योंकि ज्ञान की सीमा का विस्तार वस्तु या तथ्य नहीं कर सकते उनका सम्बन्ध-ज्ञान ही कर सकता है। वैसे भी यदि आप देखिए तो सभी विद्याएँ अन्त में जाकर दर्शन का रूप धारण कर लेती हैं। जिनमें यह सम्भावना नहीं है उन्हें हमारे शास्त्र में हीनतर कोटि की उप-विद्याएँ माना है, और वास्तव में दर्शन कोई विशिष्ट विषय न होकर सत्य-विचार का एक सामान्य विधान ही तो है।

साहित्य के क्षेत्र में तो यह बात और भी अधिक घटित होती है क्योंकि साहित्य ज्ञान के सूक्ष्मतर माध्यमोंमें से है। अतएव साहित्य के क्षेत्र में तो वस्तु अथवा तथ्य का स्वतन्त्र महत्त्व और भी कम तथा ज्ञान अर्थात् विचार एवं भाव का महत्त्व और भी अधिक है। यहाँ तो अन्वेषण का रूप भी तथ्यात्मक न होकर विचारात्मक होना चाहिए। आख्यान तो उसकी पहली आवश्यकता है। यह आख्यान जितना मूलवर्ती और सूक्ष्म-गहन होगा अनुसन्धान उतना ही मूल्यवान होगा। यह अपेक्षाकृत मौलिकता और सूक्ष्मता ही साहित्य तथा अन्य विषयों के आख्यान का अंतर स्पष्ट कर देती है। कतिपय अन्य क्षेत्रों में साधारण आख्यान से काम चल सकता है क्योंकि जहाँ आधार-भूत तथ्य मूर्त्त हैं वहाँ उनके पारस्परिक मूर्त्त सम्बन्धों का उद्‌घाटन पर्याप्त हो सकता है। परन्तु साहित्य के क्षेत्र में या उसके भी आगे दर्शन के क्षेत्र में जहाँ आधारभूत तथ्य अमूर्त्त है अथवा विचार तथा अनुभूतिरूप है, बाह्य सम्बन्ध-ज्ञान सर्वथा अपर्याप्त और बहुत-कुछ निरर्थक ही रहता है। साहित्य की आधार-

भूत सामग्री, जैसा कि मैंने ऊपर स्पष्ट किया है, निर्जीव और जड़ तथ्य नहीं होते और न केवल तर्क-गम्य विचार या सिद्धान्त ही उसके उपकरण होते हैं। उसके उपादान तो जीवन्त अनुभूतियाँ या अनुभूतिमूलक विचार अथवा सत्य ही होते हैं। ऐसी स्थिति में साहित्यिक आख्यान न स्थूल गणनात्मक होगा और न कोरा तर्कवाद ही—उसका लक्ष्य तो मूलभूत अनुभूतियों को प्रकाश में लाकर साहित्य तथा साहित्यकार की आत्मा का साक्षात्कार ही हो सकता है। जब तक आख्याता में साहित्य की आत्मा का साक्षात् करने-कराने की क्षमता न हो तब तक वह साहित्य की आत्मा के साक्षात्कार का अधिकारी नहीं हो सकता क्योंकि साहित्य मर्म की वाणी है अवयवों की गणना नहीं है। अतएव जो मर्म को न छूकर केवल शरीर पर ही हाथ फेरता रहे वह साहित्य का मर्मी नहीं हो सकता। जो अन्तर्दर्शन न कर सके वह द्रष्टा कैसे हो सकता है—वह तो गणक ही रहेगा।

इस प्रसंग में अनायास ही मुझे अपने एक सम्मान्य मित्र का तर्क याद आ जाता है। अनुसन्धान के विषय में चर्चा करते हुए उन्होंने मेरी उपर्युक्त स्थापना के उत्तर में कहा था कि यह आत्मा आदि की बात वैज्ञानिक अनुसन्धान-पद्धति से बाहर है। यह तो छायावादी कल्पना है। और यह परिहास नहीं था। यह एक विशिष्ट दृष्टिकोण को व्यक्त करता है जो तथ्य को ही अंतिम प्रमाण मानता है। इस मान्यता के अनुसार अनुसन्धाता को अपनी दृष्टि निरन्तर तथ्य पर ही रखनी चाहिए। उसके सभी निष्कर्ष एवं स्थापनाएँ तथ्यगत होनी चाहिए। इसका अर्थ यही हुआ कि अनुसन्धाता का दृष्टिकोण शुद्ध वस्तुगत होना चाहिए—उसमें आत्मगत अथवा भावगत तत्वों के लिए कोई स्थान नहीं है। सामान्यतः तो यह मान्य ही होना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि गवेषणा-विवेचना के लिए वस्तुपरक निर्लिप्त दृष्टि सर्वथा वांछनीय ही है। फिर भी ये शब्द पारिभाषिक एवं धारणात्मक हैं इनका अर्थ सर्वथा मूर्त अथवा ऋजु-रूढ़ नहीं है। इसलिए इनकी व्याख्या अपेक्षित है। वस्तु-

परक अथवा तथ्यपरक दृष्टिकोण का अर्थ यह है कि द्रष्टा या समीक्षक वस्तु अथवा तथ्य पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित रखता है। वह वस्तु या तथ्य को उसके अपने रूप में ही देखता और प्रस्तुत करता है, उस पर अपनी मनसा का आरोप नहीं करता—उसमें अपने भावों या विचारों का रंग नहीं देता। वस्तुपरक समीक्षक केवल उसी को ग्रहण करता है जो उसे तथ्यों से प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त होता है। वह अपनी कल्पना को तथ्यों का प्रसव नहीं करने देता। यही वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। निर्लिप्त दृष्टि से जगत का यथार्थ दर्शन करना विज्ञान का लक्ष्य है। विज्ञान के लिए जगत अथवा प्रकृति या पदार्थ ही मुख्य है, आत्मा नहीं। प्रकृति ही आत्माका उपबन्धन (कन्डिशनिंग) करती है, आत्मा प्रकृति का नहीं। तथ्यपरक दृष्टिकोण इसी सिद्धान्त का प्रोद्भास है। इसमें सन्देह नहीं कि उपर्युक्त मान्यता में बहुत कुछ सार है,परन्तु फिर भी इसका तत्त्व-विश्लेषण करना आवश्यक है और कम से कम इसके अतिवाद से बचना चाहिए। पहला प्रश्न तो यह उठता है कि क्या विज्ञान का यह सिद्धान्त हमें यथावत् मान्य है कि प्रकृति ही आत्मा का उपबन्धन करती है। जहाँ तक भारतीय जीवन-दर्शन का सम्बन्ध है, इस प्रकार का सिद्धान्त प्रायः अमान्य ही है। इसका निर्वाह सांख्य भी अंत में नहीं कर पाया। जगत और जीवन के सभी रूपों की परीक्षा करने के उपरान्त भारतीय दर्शन अन्त में आत्मवाद पर ही जाकर रुका है।

उधर पाश्चात्य दृष्टि में भी अभी तक प्राधान्य आत्मवाद अथवा आदर्शवादी चिन्ताधारा का ही है। द्रष्टा के व्यक्तित्व से असम्पृक्त दृश्य अपने आप में जड़ है। जब तक हम अपनी आँख के रंग और प्रकाश को वस्तु के रूप पर प्रभाव डालने से नहीं रोक सकते तब तक हमारे लिए अपने दृष्टिकोण को शुद्ध अनात्मपरक एवं निर्लिप्त बनाने का गर्व अनुचित है। मेरा यह तर्क साहित्य पर तो और भी अधिक लागू होता है क्योंकि साहित्य का तो निर्माण ही मूलतः भाव-तत्त्व अथवा आत्म-तत्त्व से होता है। अतएव साहित्यिक व्याख्याता के लिए तो

रूढ़ार्थ में शुद्ध निस्संग या निर्लिप्त दृष्टि एक अर्थवाद के रूप में ही मानी जा सकती है। जहाँ दृश्य (अर्थात् साहित्य) आत्मपरक है, जहाँ दर्शन की प्रक्रिया आत्मपरक है (क्योंकि साहित्य का दर्शन बाह्य संवेदन-मय न होकर चेतनामय ही होता है,) वहाँ दृष्टि रूढ़ अर्थमें अनात्मपरक कैसे हो सकती है ? अतएव वस्तुपरक, निर्लेप, निस्संग अथवा अनात्म-परक शब्दों का साहित्य के प्रसंग में रूढ़ प्रयोग असंगत है। हाँ, इन्हें अर्थवाद के रूप में ग्रहण करना सर्वथा समीचीन ही नहीं वरन् आवश्यक भी है। अर्थवाद के रूप में वस्तुपरक या अनात्मपरक दृष्टि से तात्पर्य यह है कि आख्याता को विषय पर अपने राग-द्वेष का आरोप नहीं करना चाहिए, अपने पूर्वग्रहों को यथासम्भव दूर रखना चाहिए, कम से कम उनमें लिप्त नहीं होना चाहिए, तथा अपनी कल्पना का विषयानुकूल संयमन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त इसका एक सूक्ष्मतर अर्थ भी है वह है अपने प्रति ईमानदारी। आत्मपरक या भावपरक दृष्टिकोण का प्रायः आत्म-छल या आत्म-प्रवंचन में स्खलन हो जाता है। वस्तुपरक दृष्टि की स्पृहा इसी स्खलन का सफल निवारण है। अतएव साहित्यिक आख्यान में वस्तुपरकता का अर्थ है अपने प्रति ईमानदारी, संयम तथा संतुलन। उसके अर्थ को इसके आगे खींचना साहित्य के मर्म पर आघात करना है।

मौलिकता

मौलिकता अनुसन्धान का प्राणतत्त्व है। परन्तु इसका स्वरूप भी विषय-सापेक्ष्य है, और साथ ही इसकी कई कोटियाँ भी हैं। स्वरूप की विषय-सापेक्ष्यता का अर्थ यह है कि विज्ञान और साहित्य-विषयक मौलिकता प्रायः समान नहीं होती। विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में जहाँ तथ्य का आविष्कार तथा अन्वेषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है वहाँ साहित्य के क्षेत्र में उसका उतना अधिक मूल्य नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन हस्त-लिखित लेख, ग्रंथ आदि की शोध, या उसके भी आगे साहित्य-सम्बन्धी

तथ्यों की शोध का भी अपना महत्त्व है और वह अत्यन्त वांछनीय है, परन्तु वह आधार ही रहेगा आधेय नहीं हो सकता, वह अधिक से अधिक दूध ही रहेगा नवनीत नहीं बन सकता। नवनीत तो विचार ही है जो मंथन के उपरान्त प्राप्त हो सकता है। साहित्य का अनुसन्धेय वही है, और वही उसकी मौलिकता का मानदण्ड भी। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य की मौलिकता का माप तथ्य का अन्वेषण मात्र नहीं है। उसका माप है तथ्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का अन्वेषण अथवा उद्घाटन जो अनिवार्यतः 'विचार' रूप ही होगा। इसलिए साहित्य के किसी गवेषणात्मक निबन्ध को केवल इस आधार पर अस्वीकृत करना न्याय्य नहीं है कि वह अन्वेषणात्मक नहीं है आलोचनात्मक है, क्योंकि मौलिक आलोचना भी अन्वेषण ही है—वरन् यह कहिए कि साहित्य के क्षेत्र में तो आलोचना अन्वेषण का और भी उत्कृष्ट एवं मौलिक रूप है। वास्तव में उपर्युक्त तर्क ही एक असाहित्यिक तर्क है। साहित्य के क्षेत्र में इसके दो दुष्परिणाम होते हैं—एक तो यह कि इस प्रकार मूल्यों का विपर्यय हो जाता है। अतत्त्व पर बल दिये जाने से तत्त्व का महत्त्व घट जाता है। साहित्य में गणनात्मक तथ्य-संकलन ज़ोर पकड़ जाता है, मर्म-ज्ञान उपेक्षित हो जाता है। दूसरा दुष्परिणाम यह होता है कि आधुनिक साहित्य अथवा समसामयिक साहित्य इस दृष्टि से अनुसन्धेय नहीं रह जाता। कामायनी, मैथिलीशरण गुप्त, पंत, निराला, महादेवी के काव्य अनुसन्धान के विषय नहीं बन सकते। और, वास्तव में अनेक विश्वविद्यालयों में जीवित साहित्यकारों अथवा समसामयिक साहित्य के अध्ययन पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगा हुआ है। यह प्रवृत्ति वास्तव में चिन्त्य है।

इस संदर्भ में दूसरा विचारणीय विषय है मौलिकता। मौलिकता की विभिन्न कोटियाँ हैं। मौलिकता की सर्वोच्च कोटि है आविष्कार। साहित्य में आविष्कार का अर्थ है नवीन सिद्धान्त का आविष्कार। यह कार्य जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही दुष्कर भी। सिद्धान्त के आविष्कर्ता अत्यन्त

विरल ही होते हैं। किसी एक देश के ही नहीं विश्व के साहित्य में भी उनकी संख्या सदैव नगण्य ही रहती है। प्राचीन काल में भरत, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, उधर अरस्तू, लोंजाइनस आदि, और आधुनिक युग में फ्रायड, क्रोचे आदि ही इस गौरव के अधिकारी हैं। द्वितीय कोटि में पुनराख्यान आता है। यहाँ नवीन सिद्धान्त का आविष्कार या अन्वेषण मौलिकता का प्रमाण नहीं होता, किसी मान्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त के पुनराख्यान में ही मौलिक शक्ति का विकास मिलता है। किसी ज्ञात विचार या सिद्धान्त की नवीन व्याख्या एवं प्रयोग-उपयोग में भी उच्च कोटि की मौलिकता निहित रहती है। उदाहरण के लिए अभिनव गुप्त का महत्त्व नवीन सिद्धान्त-प्रचलन पर आधृत नहीं है। आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त या भरत के रस-सिद्धान्त के गंभीर व्याख्यान में ही उनकी मौलिकता का विकास हुआ है और संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास प्रमाण है कि अभिनव का महत्त्व आनन्दवर्धन से कम नहीं है। विदेश के अनेक आचार्यों और हिन्दी में शुक्लजी के लिए भी यही कहा जा सकता है। मौलिकता की एक तीसरी कोटि भी मानी जा सकती है। परन्तु यह मौलिकता का स्थूल अथवा बाह्य रूप ही है। तथ्यान्वेषण पाठ-शोध, पाठाध्ययन आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं। इनका भी अपना महत्त्व है क्योंकि इनके लिए भी एक विशिष्ट मानसिक शिक्षण और श्रम तथा संलग्नता की अपेक्षा होती है। परन्तु फिर भी इन्हें मौलिकता की उच्चकोटि के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता क्योंकि इनमें तथ्य-शोध ही रहता है—तत्त्व-शोध नहीं। इनके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार के निबन्धों को भी मौलिकता की दृष्टि से इसी कोटि-क्रम में रखा जा सकता है। मेरा अभिप्राय उन निबन्धों से है, जिनका प्रतिपाद्य नवीन नहीं होता परन्तु प्रतिपादन नवीन होता है। इनमें आविष्कार तथा उद्घाटन नहीं होता प्रकाशन मात्र होता है। परन्तु इस प्रकार के निबन्धों का भी अपना महत्त्व है ही—कम से कम वे ग्रहण-शक्ति और प्रतिपादन-शक्ति का द्योतन तो करते ही हैं। इसलिए साहित्य के

अध्ययन में उनका अपना मूल्य है और मौलिकता की कोटि से उन्हें बहिष्कृत नहीं किया जा सकता—भले ही उनकी मौलिकता निम्न कोटि की ही क्यों न हों।

हमारे आचार्यों ने साहित्य के तीन हेतु माने हैं—शक्ति, निपुणता और अभ्यास। इन तीनों का महत्त्व भी इसी क्रम से माना गया है। अर्थात् शक्ति का महत्त्व सब से अधिक, निपुणता का उसके बाद और अभ्यास का सबके बाद। मौलिकता की उपर्युक्त कोटियों को भी इन्हीं तीन गुणों के समानान्तर माना जा सकता है। आविष्कार "शक्ति" का द्योतक है, पुनराख्यान "निपुणता" का और तथ्यशोधन, पाठाध्ययन, प्रतिपादन आदि "अभ्यास" के आश्रित हैं।

१४

हिन्दी-अनुसन्धान की प्रगति[1]

डा० उदयभानु सिंह

एम. ए., पी-एच. डी.

हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

हिन्दी का अनुसन्धान-कार्य द्विप्रकारक है। पहले रूप में उन साहित्य-चिन्तकों की देन है जिन्होंने शुद्ध साहित्यिक उद्देश्य से हिन्दी की अज्ञात कृतियों की खोज की है, अव्याख्यात सामग्री का अभिनिवेशपूर्वक व्याख्यान किया है और विवेचित तथ्यों की नूतन दृष्टि से परीक्षा की है। इस

१. प्रस्तुत लेख के प्रणयन में प्रयाग की 'हिन्दी-परिषद्' के द्वारा प्रकाशित 'अनुशीलन' पत्र से पर्याप्त सहायता ली गई है। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० इन्द्रनाथ मदान, पं० विनयमोहन शर्मा, पं० मोहन वल्लभ पन्त, डा० भगीरथ मिश्र, डा० 'राकेश', डा० सुधीन्द्र, डा० 'चन्द्राकर' और ठा० विजयपाल सिंह का मैं विशेष अनुगृहीत हूँ जिन्होंने अनुसन्धान-सम्बन्धी सूचनाएँ भेजकर मुझे कृतार्थ किया है। अत्यन्त खेद का विषय है कि एकाध संस्थाओं और महानुभावों ने मेरी प्रार्थना पर ध्यान नहीं दिया। उनकी कृपा से वंचित रह जाने के कारण मैं उनके विश्वविद्यालय में हुए या हो रहे कार्य की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त न कर सका। फिर भी लेख की अपूर्णता कम करने का यथाशक्ति प्रयास किया गया है।

वर्ग के अन्तर्गत—अध्यापक और अनध्यापक—दोनों ही प्रकार के विद्वानों द्वारा किया गया प्रयत्न श्लाघ्य है। अनुशीलन की जो भूमिका मिश्रबन्धु-सरीखे प्रारम्भिक समीक्षकों ने प्रस्तुत की, वह उपेक्षा का विषय नहीं है। पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आदि ने हिन्दी के अज्ञात अंशों का जो उद्घाटन और विश्लेषण किया वह भी सादर अवेक्षणीय है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास, सूर-तुलसी-जायसी पर लिखित आलोचनाएँ, बाबू श्यामसुन्दर दास-कृत 'हिन्दी भाषा और साहित्य' आदि कृतियाँ आज भी हिन्दी-अनुशीलों का पथ-प्रदर्शन कर रही हैं। (पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी-प्रणीत 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'कबीर', 'सूर-साहित्य', 'नाथ-सम्प्रदाय', 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' आदि ग्रन्थ अनुसन्धानात्मक साहित्य की अक्षय्य निधि हैं।) पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा किया गया बिहारी, घनानन्द आदि का शोधमूलक परिशीलन सच्चे अनुसन्धित्सु की विवेचना-शक्ति का प्रमाण है। पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी के 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी', 'आधुनिक साहित्य', 'महाकवि सूरदास' आदि में उपस्थापित गवेषणात्मक समालोचना अनुसन्धान के सामान्य स्तर से बहुत ऊँची वस्तु है। साहित्य के इस क्षेत्र में विदेशी अन्वेषकों की देन भी बिसारी नहीं जा सकती। इस प्रकार के समालोचकों का परिचय-पर्यालोचन प्रस्तुत लेख का प्रतिपाद्य नहीं है।

दूसरा रूप उन विद्वानों का है जिन्होंने डी. लिट्., डी. फ़िल. या पी-एच. डी. की उपाधि के लिए विश्वविद्यालयों में अनुसन्धान किया है या कर रहे हैं। इसी प्रकार की खोज का संक्षिप्त परिचय देना ही यहाँ पर अभीष्ट है। इस लेख में पहले, विभिन्न विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत सम्पन्न अनुसन्धान-कार्य की चर्चा की गई है और फिर, प्रत्येक विश्वविद्यालय में अनुशीलन के लिए स्वीकृत विषयों की सूची का उल्लेख है।

प्रयाग विश्वविद्यालय

इस विश्वविद्यालय से सर्वप्रथम श्री बाबूराम सक्सेना (अध्यक्ष,

संस्कृत-विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय) को 'अवधी का विकास' प्रस्तुत करने के उपलक्ष में डी. लिट्. की उपाधि मिली। उनका यह ग्रन्थ अंगरेजी में सन् १९३८ में इण्डियन प्रस, प्रयाग, से प्रकाशित हुआ था। रामशंकर शुक्ल 'हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास' लिखकर १९३७ ई० में डी. लिट्. की उपाधि से विभूषित हुए। श्री माताप्रसाद गुप्त का अंगरेजी में लिखित प्रबन्ध 'तुलसीदास—जीवन और कृतियों का समालोचनात्मक अध्ययन' १९४० ई० में डी. लिट्. के लिए स्वीकृत हुआ।

प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-परिषद् से प्रकाशित उपर्युक्त ग्रन्थ के हिन्दी-रूप 'तुलसीदास' के तीन संस्करण निकल चुके हैं। विद्वान समीक्षक ने वैज्ञानिक विधि से सत्यानुसन्धान का प्रयास किया है। उनकी सत्यप्रियता का ठोस प्रमाण यह है कि 'तुलसीदास' की दूसरी और तीसरी आवृत्तियों में तथ्यान्वेषी अनुशीलक को नवीनतम ज्ञात सामग्री के प्रकाश में अपने पूर्व निष्कर्षों के संस्करण या परिष्करण में तनिक भी हिचक नहीं हुई है। ग्रन्थ के सात अध्यायों में तुलसी पर किये गये पूर्ववर्ती अध्ययन की विचारणा, आधारभूत सामग्री का विवेचन, कवि के जीवन-वृत्त, कृतियों के पाठ और कालक्रम तथा तुलसी की कला और दर्शन की तर्क-प्रधान शैली में गवेषणात्मक व्याख्या की गई है। एक ही कृति में तुलसी-सम्बन्धी सम्पूर्ण साहित्य के सर्वांगीण परिशीलन का यह प्रयत्न सर्वथा स्तुत्य है।

सन् १९४५ ई० में इस विश्वविद्यालय ने तीन विद्वानों को डी. लिट्. की उपाधि दी। पं० उदयनारायण तिवारी-कृत 'भोजपुरी का विकास' और श्री हरदेव बाहरी-लिखित 'हिन्दी-अर्थ-विचार' अभी तक प्रकाश में नहीं आये। लखनऊ विश्वविद्यालयके हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष श्री दीनदयालु गुप्त का प्रबन्ध 'हिन्दी के अष्टछाप कवियों का अध्ययन' 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' के नाम से हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, द्वारा प्रकाशित हुआ है। इस विशाल ग्रन्थ में अनेक डॉक्टरेट के उपयुक्त बिखरी हुई अननुसंहित सामग्री का अनुसन्धान करके पाण्डित्य-

पूर्ण गवेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

आरम्भिक दो अध्यायों में अष्टछाप-काव्य की पृष्ठभूमि और अध्ययन-सूत्रों का विशद विश्लेषण है। शेष पाँच अध्यायों में कवियों के जीवन-चरित, कृतियों, दार्शनिक विचार, भक्ति-भावना और काव्य-सौन्दर्य की विशद विवेचना की गई है। विस्तृत सामग्री की छानबीन, वस्तु और समीक्षक-दृष्टि की मौलिकता, प्रबन्ध की इयत्ता और ईदृक्ता गुप्त जी के श्रमसाध्य शोध-कार्य और प्रौढ़ मनीषा की ज्ञापिका हैं। उनका यह ग्रन्थ हिन्दी-अनुसन्धान-साहित्य के लिए गौरव का विषय है।

डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का अंगरेजी भाषा में दाखिल किया गया प्रबन्ध 'हिन्दी-साहित्य और उसकी सांस्कृतिक भूमिका—१७५७ से १८५७ तक' १९४६ ई० में डी. लिट्. के लिए स्वीकृत हुआ। हिन्दी-परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय से प्रकाशित 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' उसी का अनूदित, संशोधित एवं परिवर्द्धित रूप है। वार्ष्णेय जी ने अपने विषय पर साहित्यिक ही नहीं साहित्य-सम्बन्धी असाहित्यिक सामग्री की भी श्रम-विवेकपूर्वक छानबीन की है। यह ग्रन्थ अध्ययनशील समालोचक के मौलिक प्रयास का परिणाम है जिसमें हिन्दी साहित्य की आधुनिक युग-प्रवृत्तियों के वास्तविक रूप और महत्त्व को समझने-समझाने की अमायिक चेष्टा की गई है। डा० छैलबिहारी गुप्त 'राकेश' का प्रबन्ध 'नायक-नायिका-भेद', जिस पर उन्हें १९५२ ई० में डी. लिट्. की उपाधि दी गई थी, छप रहा है।

इस विश्वविद्यालय के प्रथम डी. फ़िल. श्री लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय हैं। उनका प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०-१९०० ई०)' १९४० ई० में स्वीकृत हुआ था। प्रयाग की 'हिन्दी-परिषद्' द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ मूल अंगरेजी-कृति का संशोधित एवं परिवर्द्धित हिन्दी-रूप है। 'पूर्व-परिचय' के अन्तर्गत उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में हिन्दी की प्रगति का निर्देश है। तदनन्तर उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध के हिन्दी-साहित्य की पीठिका का विवेचन करके हिन्दी के गद्य, निबन्ध, पत्र-पत्रिका, जीवनी-

साहित्य, साहित्यिक समालोचना, ईसाई-साहित्य, उपन्यास, नाटक और कविता की समीक्षा है। उपसंहार में आलोच्य युग का मूल्यांकन और भविष्य की ओर संकेत है। परिशिष्ट में पुरानी धारा का भी संक्षिप्त पर्यालोचन है। वार्ष्णेय जी ने अनेक अज्ञात रचनाओं, सरकारी कागद-पत्रों, लेखों, लोकगीतों आदि में उपलब्ध सामग्री की प्रयासपूर्वक शोध करके नवीन ढंग से विषय का क्रमबद्ध प्रतिपादन किया है।

सन् १९४१ में श्री श्रीकृष्ण लाल को 'हिन्दी-साहित्य का विकास (१९००-२५ ई०)' प्रस्तुत करने पर डी. फ़िल. की उपाधि दी गई। मूल ग्रन्थ अंगरेजी में दाखिल हुआ था। उसका हिन्दी-रूपान्तर हिन्दी-परिषद्, प्रयाग, से प्रकाशित हुआ है। इस रचना में बीसवीं शती के प्रथम चरण में निर्मित हिन्दी-साहित्य की इयत्ता और ईदृक्ता का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। ज्ञानसम्पन्न समीक्षक ने ग्रन्थ के सात अध्यायों में प्रतिपाद्य युग की भूमिका का विवेचन करके उसकी कविता, गद्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध एवं आलोचना के विकास का ऐतिहासिक और सुसंगत उपस्थापन किया है। गवेषणात्मक प्रबन्ध होने पर भी उसकी शैली कहीं भी बोझिल नहीं है।

१९४३ ई० में श्री छैलबिहारी गुप्त 'राकेश' ने डी. फ़िल. के लिए 'आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में रस-सिद्धान्त का समालोचनात्मक अध्ययन' दाखिल किया। श्री लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, अलीगढ़, द्वारा कृतिकार के निमित्त श्रीमती तारावली गुप्त ने इस ग्रन्थ को अंगरेजी में ही प्रकाशित कराया। इसमें प्राचीन एवं अर्वाचीन रस-समीक्षकों की आलोचना है। पचास काव्य-लक्षणों पर विचार करके रस-प्रक्रिया की सांगोपांग और मनोवैज्ञानिक विवृति की गई है। स्व० श्री जानकीनाथ सिंह 'मनोज' को उनके 'हिन्दी-छन्दःशास्त्र' पर डी. फ़िल. प्रदान की गई थी। यह ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हो सका।

श्री ब्रजेश्वर वर्मा का प्रबन्ध 'सूरदास' १९४५ ई० में डी. फ़िल. के लिए स्वीकृत हुआ। हिन्दी-परिषद्, प्रयाग, से प्रकाशित इस ग्रन्थ में

सूरदास की जीवनी, रचनाओं, भक्ति-भावना और काव्य-कलाका विवेचन है। मुद्रित ग्रन्थ मूल का संशोधित रूप है। विवृत सामग्री का उपयोग करने पर भी वर्मा जी की दृष्टि में मौलिकता है। काव्यशास्त्रीय विवेचन को महत्त्व न देकर सूर के अन्तर्जगत् के विश्लेषण के साथ उनकी प्रवृत्तियों और अनुभूतियों के विकास को समझने की चेष्टा की गई है। सूर को पुष्टिमार्गीय भक्त स्वीकारते हुए भी उनकी भक्ति की समीक्षा में व्यापक दृष्टि से काम लिया गया है।

श्री ब्रजमोहन गुप्त का प्रबन्ध 'हिन्दी-काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ (१६७५ ई० तक)', जिस पर उन्हें सन् १६४६ में डी. फ़िल. की उपाधि मिली थी, प्रकाश में नहीं आया। श्री पृथ्वीनाथ 'कमल' कुलश्रेष्ठ का प्रबन्ध 'हिन्दी-प्रेमाख्यानक-काव्य' १६४७ ई० में डी. फ़िल. के लिए स्वीकृत हुआ था। यह अंगरेजी में लिखा गया था। इसी के आधार पर उनका ग्रन्थ 'मलिक मुहम्मद जायसी' साहित्य-भवन लिमिटेड, इलाहाबाद से प्रकाशित है। मानसिंह प्रकाशन, कचहरी रोड, अजमेर, से प्रकाशित 'हिन्दी-प्रेमाख्यानक-काव्य' वास्तविक प्रबन्ध का हिन्दी-रूपान्तर प्रतीत होता है। इसमें भूमिका-निर्देश के अनन्तर प्रेमाख्यानक-धारा के उद्गम, विकास, साहित्यिक पक्ष, हिन्दी की अन्य धाराओं पर उसके प्रभाव और भारतीय साहित्य में उसके स्थान का मूल्यांकन किया गया है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन विशेष मौलिक है।

१६४८ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय ने चार अनुसन्धाताओं को डी. फ़िल. की उपाधि प्रदान की। श्री रामरतन भटनागर ने 'हिन्दी-समाचार-पत्रों का इतिहास' लिखा था जो किताब महल, इलाहाबाद, से प्रकाशित हुआ। श्री रघुवंश सहाय वर्मा ने 'हिन्दी-साहित्य के भक्ति और रीतिकालों में प्रकृति और काव्य' का अध्ययन प्रस्तुत किया। इलाहाबाद के साहित्य-भवन लिमिटेड ने इस ग्रन्थ को 'प्रकृति और काव्य' के नाम से प्रकाशित किया है। इस मुद्रित ग्रन्थ की प्रथम जिल्द (संस्कृत-खण्ड) का क्षेत्र डी. फ़िल. के प्रबन्ध-विषय के बाहर है। दूसरी

जिल्द (हिन्दी-खण्ड) ही डॉक्टरेट के लिए प्रस्तुत की गई कृति है। इसमें दो भाग हैं। प्रथम भाग के पाँच प्रकरणों में प्रकृति और काव्य के सम्बन्ध की वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक विवेचना की गई है। यह भूमिका द्वितीय भाग के प्रथम प्रकरण तक निर्वाहित है। शेष आठ प्रकरणों में मध्ययुगीन हिन्दी-काव्य के प्रकृति-निरूपण का निगमन और श्रिगमन प्रणालियों द्वारा नये ढंग, नयी दृष्टि, से सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। रघुवंश जी नें अपने व्यापक अध्ययन और नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा के बल पर एक नई दिशा की सफल खोज की है। इसमें भाव और चिन्तन का सुन्दर समन्वय है। श्री शीलवती मिश्र के प्रबन्ध का विषय था 'हिन्दी-सन्त और कबीर का विशेष अध्ययन'। यह प्रबन्ध दर्शन-विभाग के अन्तर्गत लिखा गया था। श्री जयकान्त मिश्र ने अंगरेजी-विभाग के अन्तर्गत अनुसन्धान करके 'मैथिली साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—आदिकाल से लेकर वर्तमान समय तक और उस पर अंगरेजी का प्रभाव'-शीर्षक ग्रन्थ लिखकर डी. फ़िल. की उपाधि ली थी। ये दोनों कृतियाँ देखने में नहीं आईं।

श्री शैलकुमारी माथुर को 'आधुनिक हिन्दी-काव्य में (१६००-१६४५ ई०) नारी-भावना' का अध्ययन सम्पन्न करने पर १६४६ ई० में डी. फ़िल. मिली। हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, से प्रकाशित ग्रन्थ मूल प्रबन्ध का परिवर्द्धित रूप है। सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय दृष्टियों से पृष्ठभूमि की परीक्षा करके आधुनिक हिन्दी-कवियों की नारी-विषयक शास्त्रीय, साहित्यिक और वर्तमान व्यवस्था से सम्बन्धित विविध धारणाओं के विकास की समीक्षा की गई है। एक विदुषी अनुसन्धात्री द्वारा नारीमात्र के विषय में कवियों की विचारधाराओं के इस विश्लेषण में स्वयंसिद्ध मौलिकता और विशेषता है। श्री कामिल बुल्के का प्रबन्ध 'रामकथा—उत्पत्ति और विकास' भी इसी वर्ष डी. फ़िल. के लिए स्वीकृत हुआ था। अध्यवसायी और योग्य लेखक ने देश-विदेश में उपलब्ध राम-कथा-सम्बन्धी प्रकीर्ण सामग्री की शोधपूर्वक परीक्षा

करके रामकथात्मक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन किया है। उनके इस ग्रन्थ का प्रकाशन हिन्दी-परिषद्, प्रयाग, द्वारा 'रामकथा' के नाम से हुआ है।

श्री विश्वनाथ मिश्र (अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, सनातन धर्म कॉलेज, मुजफ्फरनगर) का अनुसन्धान-विषय था 'अंगरेजी का हिन्दी-भाषा और साहित्य पर प्रभाव।' उन्हें सन् १९५० में डी. फ़िल. मिली थी। सन् १९५१ में श्री रामसिंह तोमर का प्रबन्ध 'प्राकृत और अपभ्रंश का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव' डी. फ़िल. के लिए स्वीकृत हुआ। इसी वर्ष श्री हरिहर प्रसाद गुप्त ने भी 'आजमगढ़ जिले की फूलपुर तहसील के आधार पर भारतीय-ग्रामोद्योगों-सम्बन्धी शब्दावली का अध्ययन' प्रस्तुत करके डी. फ़िल. की उपाधि पाई थी। उपर्युक्त तीनों ही ग्रन्थ अप्रकाशित हैं।

सन् १९५२ ई० में इस विश्वविद्यालय से चार अन्वेषक डी. फ़िल. हुए। श्री टीकमसिंह तोमर का प्रबन्ध 'हिन्दी-वीर-साहित्य (१६००-१८००)' हिन्दुस्तानी एकेडमी से लगभग आधा छप चुका है। श्रमशील अनुसन्धाता ने अनेक अज्ञात कवियों एवं रचनाओं की गवेषणा कर के उपर्युक्त दो सौ वर्षों के हिन्दी-वीर-काव्य की सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक विवृति की है। इस संवत्सर के दूसरे डी. फ़िल. श्री विद्याभूषण 'विभु' की कृति 'उत्तर प्रदेश के हिन्दूपुरुषों के नामों का अध्ययन' अमुद्रित है। प्रस्तुत अध्ययन नामों के रूपों, उनके प्रवृत्तिनिमित्तों आदि का तर्क-समर्थित विवेचन होने के साथ ही साथ अत्यन्त रोचक भी है। श्री भोलानाथ का आलोच्य विषय था 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य (१९२६-४७ ई०) और उसकी पीठिका' प्रयाग विश्वविद्यालय की हिन्दी-परिषद् के द्वारा यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। श्री लक्ष्मी नारायण लाल के प्रबन्ध 'हिन्दी कहानियों का जन्म और विकास' को हिन्दी साहित्य प्रेस (इलाहाबाद) ने 'हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास' नाम देकर प्रकाशित किया है। यह ग्रन्थ विभिन्न युगों की प्रवृत्तियों की भूमिका

में हिन्दी-कहानी-साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन है।

संस्कृत-विभाग के अन्तर्गत हिन्दी से सम्बन्धित 'अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन' प्रबन्ध स्वीकृत होने पर श्री कपिलदेव द्विवेदी को डि. फ़िल. की उपाधि मिली। श्री आनन्द प्रकाश माथुर ने डी. फ़िल. के लिए इतिहास-विभाग के अन्तर्गत '१६वीं १७वीं शताब्दियों की सामाजिक अवस्था का हिन्दी-साहित्य के आधार पर अध्ययन' किया। अंगरेजी विभाग से हिन्दी-सम्बन्धी दो अन्य प्रबन्ध भी डी. फ़िल. के लिए स्वीकृत हुए। श्री धर्मकिशोर लाल का विषय था 'अंगरेजी नाटकों का हिन्दी-नाटकों पर प्रभाव' और श्री रवीन्द्रसहाय वर्मा ने 'आधुनिक हिन्दी काव्य और आलोचना पर अंगरेजी प्रभाव' का अनुशीलन किया।

इस वर्ष श्री धर्मवीर भारतीको 'सिद्ध-साहित्य' श्री जगदीश गुप्त को 'हिन्दी और गुजराती कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन' एवं श्रीसत्यव्रत सिन्हा को 'भोजपुरी लोक-गाथा' नामक प्रबन्ध प्रस्तुत करने पर डी. फ़िल. की उपाधि प्रदान की गई है। अनुसन्धान की दृष्टि से तीनों ही विषय महत्त्वपूर्ण हैं।

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

स्वर्गीय श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल साहित्यिक विषय पर प्रबन्ध प्रस्तुत करने वाले हिन्दी के सर्वप्रथम डाक्टर हैं। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दि निर्गुन स्कूल ऑव हिन्दी पोइट्री' पर काशी विश्वविद्यालय ने उन्हें संवत् १९९० में डी. लिट्. की उपाधि प्रदान की थी। बड़थ्वाल जी के पूर्व भूत डाक्टर श्री बाबूराम सक्सेना का विषय 'अवधी भाषा का विकास' (१९३१ ई०) था और श्री मोहिउद्दीन कादरी को 'हिन्दुस्तानी ध्वनियों का अनुसन्धान' करने पर लन्दन से डॉक्टरेट मिली थी (१९३० ई०)। बड़थ्वाल जी का उपर्युक्त ग्रन्थ अंगरेजी में ही प्रस्तुत किया गया था। उनके जीवन-काल में इसका हिन्दी-अनुवाद नहीं हो सका। सं० २००७ वि० में पं० परशुराम चतुर्वेदी द्वारा अनूदित और

डा० भगीरथ मिश्र द्वारा सम्पादित होकर 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' अवध पब्लिशिंग हाउस, पानदरीबा, लखनऊ, से प्रकाशित हुआ।

प्रस्तुत ग्रन्थ सात अध्यायों में विभक्त है। आरम्भ में राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों की विवेचना की गई है। तत्पश्चात् निर्गुण सन्त-सम्प्रदाय के प्रसारकों का परिचय देकर इस सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों और निर्गुण-पन्थ की विशेषताओं का विश्लेष-प्रवण निरूपण किया गया है। अन्तिम दो अध्यायों में पन्थ के स्वरूप और निर्गुण कवियों की अनुभूति-व्यंजना का हृदय-संवादी व्याख्यान है। तीन परिशिष्टों में पारिभाषिक शब्दावली, निर्गुण-सम्प्रदाय-सम्बन्धी साहित्य और शोधविषयक कुछ विशेष बातों की विचार-चर्चा अनुसन्धान की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। डा० बड़थ्वाल का यह ग्रन्थ निर्गुण-सम्प्रदाय की सर्वांगीण समालोचना का अद्वितीय निबन्ध है। मौलिक वस्तु-गवेषणा, विचार-विश्लेषण और उपस्थापन-शैली सभी दृष्टियों से यह प्रबन्ध अनुसन्धान के विद्यार्थी के लिए परम उपयोगी और उपादेय है।

पं० केसरी नारायण शुक्ल का अंगरेजी में लिखा गया प्रबन्ध 'आधुनिक काव्यधारा' १९४० ई० में डी. लिट्. के लिए स्वीकृत हुआ था। इसका हिन्दी-रूपान्तर बनारस के सरस्वती-मन्दिर ने प्रकाशित किया। इसमें आधुनिक हिन्दी-कविता से सम्बन्ध रखने वाली प्रकाशित एवं अप्रकाशित सामग्री का व्यापक अध्ययन करके पूर्ववर्ती युग की भूमिका में भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग और वर्तमान-युग के कवियों की अनेकमुखी प्रवृत्तियों की कारणनिर्देशपूर्वक ऐतिहासिक समालोचना की गई है। शैली की प्रसन्नता; अनुस्वार, चन्द्रबिन्दु, 'ए' आदि के प्रयोग की स्थिरता आदि विशेषताएँ प्रबन्ध के सौन्दर्य को बढ़ा देती हैं।

पं० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा की डी. लिट्. उपाधि का विषय था 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन'। प्रसाद के निकट सम्पर्क में रहने पर भी दूरदर्शी समीक्षक ने अरुचिकर बातों से बचने के लिए

नाटककार की जीवनीमूलक आलोचना नहीं की, आनुषंगिक चर्चाएँ नहीं उठाई । प्रतिपाद्य विषय की एकतानता की रक्षा के लिए तारतमिक या तुलनात्मक अध्ययन की उपेक्षा की गई है । इस ग्रन्थ में प्रसाद के नाटकों में निबद्ध वस्तु के ऐतिहासिक अंशों का प्रमाणसम्मत उल्लेख किया गया है । भारतीय रसवादी परम्परा और पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्य एवं शोकावसायी वस्तु-विन्यास के समन्वय की व्याख्या सुन्दर है । प्रसाद के बुद्धि-पक्ष और हृदय-पक्ष के समीचीन विश्लेषण में शर्मा जी ने निर्भ्रान्त और मौलिक दृष्टि से काम लिया है । सरस्वती-मंदिर, बनारस, से प्रकाशित यह प्रबन्ध प्रसाद के नाटक-साहित्य का व्यवस्थित अध्ययन है ।

श्री राजपति दीक्षित ने 'तुलसीदास और उनका युग' प्रस्तुत करके डी. लिट्. की उपाधि पाई । यह दशाध्यायी ग्रन्थ ज्ञानमण्डल, काशी, से छप चुका है । इसमें तुलसी और उनके आविर्भाव से तिरोभाव तक की साग्रसमग्र अवधि की समीक्षा है । प्रभावकारिणी स्थितियों का निरूपण करके तुलसी का व्यापक अध्ययन करने की चेष्टा की गई है । तुलसी की भावनाओं का बहिरंग तथा अन्तरंग परीक्षण, उनकी साम्प्रदायिकता और समन्वयवाद, प्रगति और परम्परागति आदि के विवेचन में नवीनता है । काशी विश्वविद्यालय के अन्य दो डी. लिट्. श्री० ओम्प्रकाश गुप्त और श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन' हैं । गुप्त जी का विषय था 'हिन्दी मुहावरे' । यह ग्रन्थ अप्रकाशित है । 'सुमन' जी का प्रबन्ध 'गीतिकाव्य का उद्गम, विकास और हिन्दी-साहित्य में उसकी परम्परा' भी देखने में नहीं आया । अभी तक हिन्दू विश्वविद्यालय में पी-एच. डी. के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी । पहले-पहल श्री शकुन्तला देव ने 'हिन्दी-काव्यरूपों का विकास' प्रस्तुत किया और १९५२ ई० में उन्हें पी-एच. डी. की उपाधि मिली । यह कृति मुद्रित नहीं हुई है ।

विदेशी विश्वविद्यालय

उपाधि-प्रयोजन अनुसन्धान के आदि में श्री मोहिउद्दीन कादरी को

'हिन्दुस्तानी ध्वनियों का अनुसन्धान' करने पर लन्दन विश्वविद्यालय से १६३० ई० में डॉक्टरेट प्राप्त हुई थी। प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष श्री. धीरेन्द्र वर्मा ने पेरिस विश्वविद्यालय में डी. लिट्. के लिए 'ब्रजभाषा' का अनुशीलन प्रस्तुत किया था। पटना विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के प्रधान श्री विश्वनाथ प्रसाद को 'भोजपुरी ध्वनियों और ध्वनि-प्रक्रिया का अध्ययन' सम्पन्न करने पर लन्दन विश्वविद्यालय द्वारा डॉक्टरेट प्रदान की गई थी। श्री जनार्दन मिश्र को भी 'सूरदास' पर डॉक्टरेट की उपाधि किसी विदेशी विश्वविद्यालय से ही मिली है। अपेक्षित विवरण की अनुपलब्धि के कारण उनका विस्तृत और उपयुक्त परिचय न दे सकने का खेद है।

पंजाब विश्वविद्यालय

इस विश्वविद्यालय के सर्वप्रथम डाक्टर श्री इन्द्रनाथ मदान हैं। मदान जी का प्रबन्ध 'सामाजिक वातावरण के विशेषाध्ययनपूर्वक आधुनिक हिन्दी साहित्य की समालोचना' अंगरेजी में लिखा गया था और १६३८ ई० में उस पर पी. एच. डी. की उपाधि प्रदान की गई थी। सुना है कि अंगरेजी में ही यह छपा भी है। श्री शिवनारायण वोहरा का प्रबन्ध 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' १६४६ ई० में स्वीकृत हुआ। स्वर्गीय पं० लक्ष्मीधर शास्त्री, महामहोपाध्याय को ऋषि बरकत उल्लाह पेमी-कृत 'पेम-प्रकाश' का अनुसन्धान, सम्पादन और अध्ययन प्रस्तुत करने पर पी-एच. डी. की उपाधि मिली थी। यह ग्रन्थ इन्डियन पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली से छप चुका है। फारसी-साहित्यकार के रूपमें ज्ञात किन्तु हिन्दी-कवि के रूप में अज्ञात इस कवि के फारसी-लिपि-बद्ध काव्य का अन्वेषण और देवनागरी लिपि में उसका सम्पादन करके महा-महोपाध्याय जी ने हिन्दी के अनुसन्धान-कार्य को अग्रसर किया। श्री सरनदास भणोत को १६५२ ई० में 'श्याम सनेही या आलम' पर पी-एच. डी. की उपाधि मिली।

नागपुर विश्वविद्यालय

१६३८ ई० में पं० बलदेव प्रसाद मिश्र के 'तुलसी-दर्शन' शीर्षक प्रबन्ध को नागपुर विश्वविद्यालय ने डी. लिट्. के लिए स्वीकृत किया। इसके आठ परिच्छेदों में, प्रधानतया 'रामचरितमानस' के आधार पर, तुलसी के भक्ति-सिद्धान्त और दार्शनिक विचारों का व्यवस्थित विश्लेषण है। तुलसी की जीवनी और भारतीय भक्ति-मार्ग के प्रवाह की भूमिका में तुलसी की हरिभक्ति-पद्धति और उपासना की तुलनात्मक व्याख्या उपयोगी और उपादेय है। सामग्री की परख में निर्मल दृष्टि की मौलिकता है। अन्त में तुलसी-मत की विशेषताओं का संक्षिप्त विवेचन भी महत्त्व का है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, ने यह ग्रन्थ प्रकाशित किया है।

बाबू रामकुमार वर्मा को 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' प्रस्तुत करने पर १६४० ई० में पी-एच. डी. की उपाधि दी गई थी। इलाहाबाद के रामनारायण लाल द्वारा प्रकाशित यह प्रबन्ध वर्मा जी के अनेक वर्षों के परिश्रम का फल है। इस महाकार ग्रन्थ में विषय-प्रवेश के अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य के सन्धिकाल, चारणकाल, भक्तिकाल की अनुक्रमणिका, सन्तकाव्य, प्रेमकाव्य, रामकाव्य और कृष्णकाव्य की ऐतिहासिक सामग्री के साथ कवियों एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों की आलोचना है। रामचन्द्र शुक्ल आदि इतिहासकारों का चर्वित-चर्वण न करके वर्मा जी ने उपलब्ध सामग्री का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग किया है। हिन्दी-साहित्य के ऐतिहासिक काल-विभाजन और प्रवृत्तियों के वर्गीकरण आदि में पर्याप्त नवीनता के दर्शन होते हैं।

आगरा विश्वविद्यालय

आगरा विश्वविद्यालय की हिन्दी-सम्बन्धिनी प्रथम दो डॉक्टरेट उपाधियाँ डी. लिट्. हैं। श्री हरिहरनाथ टुक्कू का प्रबन्ध सन् १६३६ में स्वीकृत हुआ था। विषय था —"तुलसीदास : एक अध्ययन (विशेषतः

'रामचरितमानस' पर आधृत)"। यह ग्रन्थ छप न सका।

सन् १९४६ ई० में उपर्युक्त विश्वविद्यालय ने श्री नगेन्द्र को डी. लिट्. की उपाधि प्रदान की। उनका प्रबन्ध 'रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता' गौतम बुकडिपो, देहली, द्वारा प्रकाशित होकर हिन्दी-जगत् के सामने है। इस ग्रन्थ के दो भाग हैं। पूर्वार्द्ध के तीनों अध्याय रीति-काव्य की पृष्ठभूमि के निरूपक हैं। इनमें तत्कालीन राजनीति, समाज, धर्म, ज्ञान, सौन्दर्य-भावना आदि की भूमिकामें विविध अन्तःप्रवृत्तियों का विश्लेषण, विषय के औचित्यानुसार रीति-काव्य की शास्त्रीय पीठिका का ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक विवेचन और प्रतिनिधि रीति-कवियों के मुद्रित तथा हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर रीति-काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों की वैज्ञानिक मीमांसा है। उत्तरार्द्ध के सात अध्यायों में देव के व्यक्तित्व और कृतित्व की समीक्षा है। देव-विषयक प्रकाशित एवं अप्रकाशित विविध-प्रकारक सामग्री की शोधपूर्वक परीक्षा करके उनकी जीवनी, रचनाओं की प्रामाणिकता और कालक्रम, काव्य-कला आदि का तत्वाभिनिवेशी अनुशीलन किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रणेता डा० नगेन्द्र ने भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रों का प्रत्यक्ष अध्ययन और मनन किया है। इसीलिए उनकी कृति में भारतीय काव्य-चिन्तन की सैद्धान्तिक परम्परा के सौन्दर्य-मूलक शास्त्रीय विश्लेषण के साथ पाश्चात्य साहित्य-समीक्षा-पद्धति की ऐतिहासिक, समाजभूमिक, जीवनीमूलक और मनोवैज्ञानिक समालोचन-दृष्टि का सन्तुलित एवं तर्कसंगत समन्वय है।

स्वार्जित ज्ञान के आधार पर भारतीय अलंकार-शास्त्रियों के काव्य-मतों का सारगर्भित विवेचन करते हुए पाश्चात्य चिन्तकों के विचारणीय सिद्धान्तों के साथ यथास्थान तुलना की गई है। कुन्तक की वक्रोक्ति और क्रोचे की 'अभिव्यञ्जना' आदि का तुलनात्मक अध्ययन स्थान-संकोच के कारण संक्षिप्त होते हुए भी तत्त्वदर्शी है। लक्ष्य-लक्षणों का मूल्यांकन करते समय तटस्थ समीक्षक ने तरतमता को यथासम्भव कहीं

भी गौरव नहीं दिया है। रस आदि काव्य-प्रतिमानों एवं देव और उनकी कविता के विषय में मनीषी समालोचक की विद्वत्तापूर्ण विवेचनाएँ और स्थापनाएँ बहुमन्य हैं।

इस विश्वविद्यालय के प्रथम पी-एच. डी. श्री सोमनाथ गुप्त हैं। गुप्त जी का प्रबन्ध 'हिन्दी-नाटक-साहित्य का विकास' १९४७ ई० में स्वीकृत हुआ था। यह ग्रन्थ 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' के नाम से साहित्य-भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, से प्रकाशित हो चुका है। पुस्तक के सात अध्यायों में, आरम्भ से लेकर सवाक् चित्र तक हिन्दी-नाटक की विभिन्न धाराओं का विवेचन है। हिन्दी के मुख्य नाटककार भारतेन्दु और प्रसाद पर विशेष ध्यान दिया गया है। परिशिष्ट-रूप में दिया गया संस्कृत, पारसी और जनपदीय रंगमंच का निरूपण उपयोगी है।

श्रीमती किरणकुमारी गुप्त को १९४८ ई० में पी-एच. डी. की उपाधि मिली। विषय था—'हिन्दी-काव्य में प्रकृति-चित्रण'। इस प्रबन्ध का प्रकाशन हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, ने किया है। प्रथम खण्ड के दो अध्यायों में सैद्धान्तिक विवेचन और भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-कृतियों के आधार पर प्रकृति-चित्रण के विविध रूपों का वर्गीकरण है। द्वितीय खण्ड में वीरगाथाकाल में हिन्दी-कवियों की प्रकृति-विषयक दृष्टि का विश्लेषणपूर्वक निर्देश किया गया है। क्षेत्र की विशालता के कारण विदुषी लेखिका ने केवल प्रमुख कवियों की प्रवृत्तियों की ही समीक्षा की है।

पी-एच. डी. के लिए स्वीकृत (१९४९ ई०) और आगरा के साहित्य-रत्न-भंडार द्वारा प्रकाशित श्री गौरीशंकर 'सत्येन्द्र' का 'ब्रज-लोक-साहित्य : एक अध्ययन' लोक-साहित्य-विषयक वैज्ञानिक चर्चा का प्रथम प्रयत्न है। विविध लोक-प्रवृत्तियों के विकास और जन-संस्कृति का तुलनात्मक प्रणाली पर अध्ययन किया गया है। लोक-वार्ता और तत्सम्बन्धी साहित्य का विधिवत् व्यवस्थित विवेचन सत्येन्द्र जी की सूक्ष्म पर्यवेक्षण-बुद्धि का परिचायक है।

श्री गोविन्द त्रिगुणायत का प्रबन्ध 'कबीर की विचारधारा' जिस पर १९५१ ई० में उन्हें पी-एच. डी. की उपाधि दी गई थी, साहित्य निकेतन, कानपुर, से प्रकाशित है। इसमें बहिस्साक्ष्य और अन्तस्साक्ष्य के आधार पर कबीर के जीवन-वृत्त का निरूपण, उनके युग, अध्यात्म-चिन्ता, काव्यकला और पंथ की रूपरेखा का विशद विवेचन है। यह ग्रन्थ विद्वान् लेखक द्वारा उपलब्ध सामग्री के उपयोग एवं अभिनव खोज का परिणाम है। इसी वर्ष श्री ओम्प्रकाश कुलश्रेष्ठ को 'हिन्दी साहित्य में अलंकार' नामक प्रबन्ध पर पी-एच. डी. की उपाधि मिली। इस अप्रकाशित ग्रन्थ में मननशील समालोचक ने विषय के विविध पक्षों की मौलिक एवं वैज्ञानिक समीक्षा की है।

सन् १९५१ में ही पं० मुंशीराम शर्मा का प्रबन्ध 'भारतीय साधना और सूर-साहित्य' पी-एच. डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह ग्रन्थ आचार्य शुक्ल साधना-सदन, कानपुर, से प्रकाशित हुआ है। प्रथम अध्याय के चार परिच्छेदों में सूर-साहित्य के पृष्ठाधार का विवेचन है। भारतीय साधना—उसकी विशेषताओं और प्रकारों—भक्तिके विकास, भागवत धर्म और सगुणोपासना आदि की व्याख्या में सामग्री और शैली की नवीनता है। शेष दस अध्यायों में विभिन्न दृष्टियों से सूर-साहित्य का विश्लेषण करके अन्त में उसकी विशेषताओं का संक्षिप्त निर्देश करते हुए हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में सूर का स्थान निर्धारित किया गया है। सूर की कृतियों का गवेषणात्मक परिशीलन करके उनके भक्ति-विषयक विचारों, साहित्यिक मूल्य आदि का यथास्थान तुलनात्मक, ऐतिहासिक और वैज्ञानिक अध्ययन एक तत्त्वान्वेषी अनुसन्धाता की प्रौढ़ विचारण-शक्ति का अभिव्यंजक है।

१९५१ ई० में ही स्वीकृत श्री यू० सी० त्रिपाठी का प्रबन्ध 'हिन्दी-निबन्ध के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन' सम्भवतः छपा नहीं है। इसी वर्ष 'हिन्दी-आलोचना : उद्भव और विकास' का गवेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके श्री भगवत्स्वरूप मिश्र पी-एच. डी. उपाधि

के अधिकारी हुए। साहित्य-सदन, देहरादून, से प्रकाशित इस ग्रन्थ में संस्कृत साहित्य-समीक्षा से लेकर आधुनिक काल तक आलोचना के विभिन्न प्रतिमानों और शैलियों का विवेचनात्मक उपस्थापन किया गया है। आधुनिक साहित्य-शास्त्र का व्याख्यान प्रबन्ध का गौरव-वर्द्धक है।

१९५२ ई० में इस विश्वविद्यालय ने चार अनुशीलकों को हिन्दी में पी-एच. डी. की उपाधि दान की—

१. श्री विश्वम्भरनाथ भट्ट—रत्नाकर, उनकी प्रतिभा और कला।

२. श्री पी० सिंह, बीसवीं शती के महाकाव्य।

३. श्री राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी—हिन्दी कविता में शृंगार रस : अध्ययन (१६०० से १८५० तक)।

४. श्री प्रेमनारायण शुक्ल—हिन्दी-साहित्य में विविध वाद।

श्री राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी का प्रबन्ध 'रीतिकालीन कविता एवं शृंगार रस का विवेचन' शीर्षक से सरस्वती-पुस्तक-सदन, मोती कटरा, आगरा, द्वारा प्रकाशित हुआ है। इसमें शृंगार रस का शास्त्रीय विवेचन, रीति-काव्य की पृष्ठभूमि, हिन्दी-शृंगार-साहित्य के स्वतन्त्र विकास और प्रतिनिधि कवियों की समीक्षा की गई है। उपसंहार में वर्तमान युग में भी शृंगार के प्रयोजन का निर्देश है।

१९५३ ई० में पी-एच. डी. के लिए स्वीकृत दोनों ही प्रबन्ध अभी प्रकाश में नहीं आये। पंडित एस०एन० सुकुल ने 'उपन्यासकार प्रेमचन्द—उनकी कला, सामाजिक विचार और जीवन-दर्शन' का अध्ययन प्रस्तुत किया था। श्री हरवंश लाल शर्मा (अध्यक्ष, हिन्दी-संस्कृत-विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़) का विषय था—'श्री मद्भागवत और सूरदास'। शर्मा जी ने हिन्दी और संस्कृत दोनों ही साहित्यों का गम्भीर अध्ययन किया है अतएव उनकी कृति में साहित्यिक अनुशीलन की गहरी पैठ और सूक्ष्म तुलनात्मक निदर्शन का दर्शन होगा ही।

लखनऊ विश्वविद्यालय में हिन्दी बहुत दिनों तक दबी रही। १९३९ ई० तक एम.ए. की ही परीक्षा नहीं हुई। अतएव अनुसन्धान भी

नहीं हो सका। सन् १९४९ में उदयभानु सिंह को उनके प्रबन्ध 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग' पर पी-एच. डी. की उपाधि मिली। यह प्रबन्ध महावीर प्रसाद द्विवेदी की जीवनी, उनकी साहित्यिक रचनाओं और उनके निर्मित युग की एकमात्र शोधमूलक आलोचना है। द्विवेदी जी के तीन अप्रकाशित ग्रन्थों, उनके द्वारा ोधित मैथिलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल आदि साहित्यकारों की ओं की सैकड़ों हस्तलिखित प्रतियों, चार-पाँच हजार पत्रों और ों, पत्रिकाओं एवं समाचार-पत्रों के रूप में प्रकाशित उस युग की सामग्री के गवेषणात्मक अध्ययन के आधार पर मौलिक दृष्टि ानिक विवेचना करने की चेष्टा की गई है। यह ग्रन्थ लखनऊ श्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

१९४७ ई० में पं० भगीरथ मिश्र जी को पी-एच. डी. की उपाधि प्रदान की गई। विश्वविद्यालय के ही द्वारा प्रकाशित उनका प्रबन्ध 'हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास' मिश्र जी के गम्भीर अध्ययन और तत्वग्राहिणी प्रतिभा का सुफल है। हिन्दी-काव्यशास्त्र के इतिहास की अपेक्षित अभाव-पूर्ति करने वाला यह अनुशीलन-ग्रन्थ, जिसमें अनेक ज्ञाताज्ञातनामा कृतियों की खोज करके १५७ हस्तलिखित या मुद्रित ग्रन्थों की परीक्षा की गई है, हमारी अनुसन्धान-प्रगति में एक निश्चित सोपान है। इसमें काव्यशास्त्र के स्वरूप; विषय और सीमा; हिन्दी-काव्यशास्त्र के प्रारम्भ और विकास; रीति-ग्रन्थों के विस्तार और उत्कर्ष; आधुनिक ग्रन्थों के अध्ययन; पूर्वकालीन कवियों के काव्यादर्श; काव्यशास्त्र-सम्बन्धी आधुनिक धारणाओं; काव्यशास्त्र की आधुनिक समस्याओं; काव्य में प्रचलित आधुनिकवाद और काव्यशास्त्र आदि विषयों का गवेषणात्मक सूक्ष्म विवेचन है। वस्तु, विचार और शैली सभी दृष्टियों से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

लखनऊ विश्वविद्यालय से प्रकाशित और पी-एच. डी. के लिए स्वीकृत श्री सरयूप्रसाद अग्रवाल का प्रबन्ध 'अकबरी दरबार के हिन्दी-कवि'

अपने विषय पर अकेला ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के प्रणयन में अग्रवाल जी को अनेक अज्ञात एवं दुर्लभ रचनाओं की खोज करनी पड़ी है। इसमें समस्त उपलब्ध सामग्री की छानबीन करके नरहरि, ब्रह्म, तानसेन, गंग और रहीम की जीवनी, रचनाओं तथा काव्य-कला की सुव्यवस्थित विवेचना की गई है। उपर्युक्त कवियों की अप्रकाशित अथवा दुष्प्राप्य रचनाओं के परिशिष्टरूप में दिये गये उद्धरण भी अनुसन्धित्सु-जनों के लिए मननीय हैं। अन्धकार में पड़ी हुई सामग्री के अनुसन्धान और तत्कालीन हिन्दी-साहित्य-सम्बन्धी तथ्यों की नूतन व्याख्या—दोनों ही दृष्टियों से यह ग्रन्थ एक मौलिक अनुशीलन है। इतिहास-विभाग के अंतर्गत श्री समरबहादुर सिंह को रहीम की रचनागत ऐतिहासिक सामग्री की गवेषणा करने पर पी-एच. डी. की उपाधि प्रदान की गई थी।

इस विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच. डी. के लिए स्वीकृत शेष छः हिन्दी-प्रबन्ध अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं, किन्तु शीघ्र ही छप जाने की आशा है। श्री त्रिलोकी नारायण दीक्षित के 'मलूकदास' नामक प्रबन्ध में हिन्दी के निर्गुण-सन्त-साहित्य की भूमिका में मलूकदास की जीवनी, कृतियों, काव्य-कला और आध्यात्मिक विचारों का गवेषणापूर्ण विश्लेषण-प्रधान अध्ययन है। श्री हीरालाल दीक्षित के 'केशवदास—एक अध्ययन' में प्रकाशित एवं अप्रकाशित सामग्री का परिशीलन करके कवि और आचार्य केशवदास के जीवन-वृत्त, रचनाओं, कवित्व और आचार्यत्वं की प्रामाणिक विवेचना की गई है। श्री हरिकान्त श्रीवास्तव ने 'हिन्दी साहित्य के हिन्दू प्रेमाख्यानकार' में कथातत्त्व और रसतत्त्व की दृष्टि से लगभग २४ प्रेमाख्यानकों का ऐतिहासिक अनुशीलन प्रस्तुत किया है। कदाचित् किसी सज्जन ने उर्दू विभाग से प्रेमचन्द पर प्रबन्ध प्रस्तुत करके पी-एच. डी. की उपाधि पाई थी। डा० सत्येन्द्र के 'ब्रजलोक-साहित्य' की भाँति श्री कृष्णदेव उपाध्याय ने 'भोजपुरी-लोक-साहित्य' का अध्ययन प्रस्तुत किया। इसमें सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का

निर्देशन करके समाजशास्त्र, नृतत्त्व विज्ञान और साहित्यिकता की दृष्टि से भोजपुरी लोक-साहित्य की समीक्षा की गई है। श्री नारायण दास खन्ना के प्रबन्ध का विषय था—'आचार्य भिखारीदास'। श्री पुत्तूलाल शुक्ल 'चन्द्राकर' का अनुसन्धान-ग्रन्थ है 'आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्दोयोजना।' इसकी कुछ मौलिक विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं। छन्दों के सिद्धान्त और प्रयोग का व्यापक सूक्ष्म विश्लेषण, भारतीय एवं अभारतीय छन्दों की तात्विक आलोचना, आधुनिक पद्य और गद्य-रचनाओं में प्रयुक्त विविध-प्रकारक छन्दों का निगमन प्रणाली द्वारा शास्त्रीय विवेचन आदि एक अधीती विद्याव्यसनी के दृष्टि-नैर्मल्य के प्रमाण हैं।

दिल्ली विश्वविद्यालय[1]

१९५१ ई० में इस विश्वविद्यालय ने श्री विमलकुमार जैन और श्रीमती सावित्री सिन्हा को डॉक्टरेट, प्रदान की। जैन जी का प्रबन्ध 'सूफीमत और हिन्दी-साहित्य, शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है। ग्रन्थ के अठारह पर्वों में सूफीमत के आविर्भाव, उद्भास, आस्था, साधना, भारत-प्रवेश, भक्तिमार्ग, हिन्दी के सूफी कवि और काव्य, हिन्दी-काव्य में सूफी सिद्धान्त आदि विषयों का खोजपूर्ण वैज्ञानिक विवेचन है। भारतीय वातावरण में पले हुए सूफियों की हिन्दी-रचनाओं के आधार पर सूफी-सिद्धान्तों का अनुशीलन करके हिन्दी और उर्दू पर भी उसके प्रभाव का मूल्यांकन अध्येता का मौलिक प्रयास है। 'निर्गुण', 'सगुण' आदि शब्दों एवं प्रचलित विश्वासों की व्याख्यान-शैली में पर्याप्त नवीनता है। मध्यकालीन सूर तथा मीरा और आधुनिक छायावाद, हालावाद आदि पर सूफी प्रभाव का अध्ययन भी इस कृति की अवेक्षणीय विशेषता है।

---

१. दिल्ली विश्वविद्यालय ने डी.लिट्. की उपाधि के लिए अभी तक कोई व्यवस्था नहीं की है।

श्रीमती सिन्हा का ग्रन्थ 'मध्यकालीन हिन्दी-कवयित्रियाँ' हिन्दी-अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, की ओर से आत्माराम एण्ड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली, द्वारा प्रकाशित हो चुका है। प्रबन्ध के आरम्भ में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और युग-प्रवृत्तियों के समीचीन विश्लेषण के उपरान्त सं० १६०० तक की कवयित्रियों की शोधमूलक समीक्षा की गई है। (अब तक हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने केवल मीराबाई को गौरव दिया था। योग्य अनुसन्धात्री ने अनेक अज्ञात कवयित्रियों एवं रचनाओं की खोज करके, प्रकाशित और अप्रकाशित सामग्री का अध्ययन करके, विवेच्य विषय का गवेषणात्मक निरूपण किया है।)

१९५२ ई० में श्री हरिवंश कोचर और श्री दशरथ ओझा ने क्रमशः 'अपभ्रंश साहित्य' एवं 'हिन्दी-नाटकों का उद्भव और विकास (भारतेन्दु और प्रसाद का विशेष अध्ययन)' प्रस्तुत किया। कोचर जी का प्रबन्ध प्रकाशित होने वाला है। इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के चार अध्यायों में 'अपभ्रंश' के अर्थ, अपभ्रंश भाषा के विकास, अपभ्रंश और हिन्दी तथा अपभ्रंश साहित्य की पृष्ठभूमि का विवेचन है। द्वितीय भाग के चौदह अध्यायों में अपभ्रंश-साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा, उसके प्रबन्ध-मुक्तक काव्य, रूपक, कथा-साहित्य, गद्य एवं हिन्दी पर पड़ने वाले प्रभाव का न्यायसंगत विश्लेषण किया गया है। आरम्भ में प्रतिपाद्य विषय पर किये गये अध्ययन का संक्षिप्त परिचय देकर अपभ्रंश की परम्परागत और स्वतन्त्र प्रवृत्तियों की, तुलनात्मक प्रणाली का अवलम्बन करते हुए, साहित्यिक दृष्टि से समीक्षा की गई है। प्रकाशित और अप्रकाशित ग्रन्थ-राशि का मनन करके विचारशील अन्वेषक ने अपभ्रंश-साहित्य के ऐतिहासिक समीक्षा-ग्रन्थ की अपेक्षित पूर्ति की है।

दूसरे प्रबन्ध का प्रकाशन 'हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद्', दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, की ओर से दिल्ली के आत्माराम एण्ड संस द्वारा हो रहा है। ग्रन्थ लगभग छप चुका है। ओझा जी ने अपने इस प्रबन्ध में तथ्यों की खोज करके नवीन निष्कर्षों की स्थापना की है। उन्हों

प्रमाणपूर्वक सिद्ध किया है कि हिन्दी-नाटक का प्रारम्भ तेरहवीं शती से हुआ है, सत्रहवीं से नहीं। हिन्दी-नाटक की अपनी धारा है; वह संस्कृत-जन्य नहीं है। उस पर अपभ्रंश के रास-ग्रन्थों का प्रभाव अवश्य पड़ा है। हिन्दी-नाटकों के साथ अहिन्दी नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन भी इस ग्रन्थ की विशेषता है। प्रकाशित एवं अप्रकाशित उत्तमर्ण रास-नाटकों के विकास का अनुशीलन ओझा जी का मौलिक प्रयत्न है। प्रसाद जी के नाटकों की जीवनी-मूलक आलोचना में भी पर्याप्त नवीनता है।

राजस्थान विश्वविद्यालय

इस विश्वविद्यालय में डॉक्टरेट के लिए स्वीकृत पहला प्रबन्ध श्री सरनाम सिंह 'अरुण' का है—'संस्कृत-साहित्य का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव' (१९४९ ई०)। इसका प्रकाशन इलाहाबाद के रामनारायण लाल ने किया है। दूसरे वर्ष १९५० ई० में श्री ब्रह्मदत्त मिश्र 'सुधीन्द्र' को उनके ग्रन्थ 'द्विवेदी-युग (१९०१-२० ई०) में हिन्दी-कविता का पुनरुत्थान : एक अध्ययन' पर पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त हुई। यह प्रबन्ध मुद्रित रूप में ही दाखिल हुआ था। हिन्दी-जगत् के समक्ष इसका शीर्षक है 'हिन्दी-कविता में युगान्तर'। प्रकाशक हैं—आत्माराम एण्ड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली। सुधीन्द्र जी ने इस कृति में द्विवेदी-युगीन विभिन्न काव्य-धाराओं एवं प्रवृत्तियों का स्वतन्त्र ढंग से विश्लेषण किया है। प्रकृति-चित्रण आदि के वर्गीकरण में भी दृष्टि की नवीनता है। क्लैसिकल, सब्जेक्टिव, ऑब्जेक्टिव आदि अंगरेजी शब्दों की अर्थ-व्यंजना के लिए क्रमशः वरिष्ठ, आत्मगत, परगत आदि हिन्दी-पर्यायों के प्रयोग का मौलिकता भी ध्यान देने योग्य है।

राजस्थान के अन्य दो डाक्टर हैं श्री मोतीलाल मेनारिया और श्री भोलाशंकर व्यास। व्यास जी ने 'ध्वनिशास्त्र' का अनुशीलन प्रस्तुत किया था। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी से पता चला कि मेनारिया जी के प्रबन्ध का विषय था—'राजस्थान का प्राचीन हिन्दी-साहित्य।' डा० सुधीन्द्र

से सूचना मिली है कि उनका प्रतिपाद्य 'राजस्थान का पिंगल-काव्य' था। पं० मोहनवल्लभ पन्त ने बताया है कि 'राजस्थान का पिंगल-साहित्य' उनके अध्ययन का विषय था। ऐसा प्रतीत होता है कि मेनारिया जी ने परीक्षा के लिए ग्रन्थ का शीर्षक दिया था 'राजस्थान का प्राचीन हिन्दी-साहित्य' और वही ग्रन्थ (हितैषी पुस्तक भण्डार, उदयपुर, से प्रकाशित) कुछ संशोधन-परिवर्द्धन के साथ 'राजस्थान का पिंगल साहित्य' के नाम से हमारे सामने है। इसकी भूमिका में अनुसन्धान की चर्चा तो की गई है किन्तु पी-एच. डी. की परीक्षा का उल्लेख नहीं है। इसमें प्रारम्भिक काल से लेकर आधुनिक-काल तक के राजस्थानी ब्रजभाषा-साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत किया गया है। बासठ अज्ञात और चारसौ-दो ज्ञात कवियों के विषय में आयासपूर्वक खोज करके नवीन सामग्री की व्याख्या की गई है। जैन कवियों पर उनकी असाहित्यिकता के कारण विचार नहीं हुआ है। श्री फैयाज अली को १९५२ ई० में 'सन्त नागरीदास' का अध्ययन प्रस्तुत करने पर पी-एच. डी. की उपाधि मिली। यह ग्रन्थ अभी प्रकाशित नहीं हुआ है।

पटना विश्वविद्यालय

इस विश्वविद्यालय से अभी तक तीन अध्येताओं को डॉक्टरेट की उपाधि मिली है। श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री के अनुसन्धान का विषय था 'दरिया साहब के दार्शनिक विचार।' श्री सुभद्र झा ने 'मैथिली भाषा का विकास' नामक प्रबन्ध प्रस्तुत किया। श्री रामखेलावन पाण्डेय ने 'मध्यकालीन सन्त-साहित्य' की गवेषणात्मक समीक्षा की।

कलकत्ता विश्वविद्यालय

श्री विपिन बिहारी त्रिवेदी का 'चंदवरदायी और उनका काव्य' नामक प्रबन्ध स्वीकृत करके इस विश्वविद्यालय ने उन्हें डी. फ़िल. की उपाधि प्रदान की। इसमें चन्दवरदायी की जीवनी, 'रासो' का वस्तु-वर्णन, भावव्यंजना, अलंकार-शैली, छन्द-समीक्षा और उसकी भाषा की

कतिपय विशेषताओं का गवेषणात्मक निरूपण किया गया है। प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकेडमी ने इसे प्रकाशित किया है। यह कृति चन्दबरदायी का व्यापक और व्यवस्थित अध्ययन है।

सागर विश्वविद्यालय

इस विश्वविद्यालय से पं० प्रेमशंकर तिवारी को 'जयशंकर प्रसाद के काव्य का विकास' प्रस्तुत करने पर पी-एच. डी. की उपाधि मिली है। यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है।

विभिन्न विश्वविद्यालयों में निम्नांकित विषयों पर अनुसन्धान हो रहा है—

प्रयाग विश्वविद्यालय

१. गुरुग्रन्थ साहब का अध्ययन।
२. ब्रज के वैष्णव सम्प्रदाय और उनका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव।
३. हिन्दी-प्रबन्ध-काव्य का विकास।
४. तुलसीकृत रामायण के मूल उद्गम और उनका धार्मिक महत्व।
५. हिन्दी-गीतिकाव्य का जन्म और विकास (१५वीं-१७वीं शताब्दी)।
६. हिन्दी-गीतिकाव्य का अध्ययन (१८५७-१९४५)।
७. हिन्दी और बँगला-साहित्य के वैष्णव कवियों का तुलनात्मक अध्ययन १६वीं शताब्दी)।
८. हिन्दी और गुजराती कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन। (१५वीं-१६वीं शताब्दी)।
९. सिद्ध-साहित्य।
१०. बँगला-साहित्य का आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव (१९वीं-और २०वीं शताब्दी)
११. सूरसागर की हस्तलिखित पोथियों का पाठ-सम्बन्धी अध्ययन।
१२. मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में नारी-भावना (१५००-१७०० ई०)।
१३. हिन्दी-मुक्तक काव्य का जन्म और विकास (१८वीं शती ई० तक)।

१४. हिन्दी-काव्य (१४००-१७०० ई०) में भक्ति का मूल स्रोत और विकास।

१५. रीतिकालीन हिन्दी-साहित्य (१६००-१८००) में भक्ति का विकास।

१६. कबीर की रचनाओं के पाठ तथा पाठ-सम्बन्धी समस्याओं का आलोचनात्मक अध्ययन।

१७. स्टैण्डर्ड (साहित्यिक) हिन्दी का जन्म और विकास।

१८. हिन्दी-नीति-साहित्य।

१९. १८०० ई० तक हिन्दी-साहित्य में प्रबन्ध-काव्य का जन्म और विकास।

२०. भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम और उसका आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव (१८८५-१९२७)।

२१. मध्यकालीन तेलगू और हिन्दी-वैष्णव-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन।

२२. भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन।

२३. अवधी-लोक-कथाओं और गीतों में सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन का चित्रण।

२४. हिन्दी-उपन्यास और कहानी का जन्म और विकास।

२५. बँगला-साहित्य का आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव (१९वीं और २०वीं शताब्दी)।

२६. १९वीं शताब्दी के सुधारवादी आन्दोलनों का आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव।

२७. बुन्देलखण्ड का लोक-साहित्य।

२८. हिन्दू राष्ट्रीयता और मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य।

२९. हिन्दी-भक्तिवार्त्ता-साहित्य (१४००-१८०० ई०)।

३०. हिन्दी-साहित्य पर माध्व और निम्बार्क-सम्प्रदायों का प्रभाव।

३१. देवनागरी लिपि का अध्ययन।

३२. राम-सम्बन्धी तुलसी-उत्तर हिन्दी-साहित्य ।
३३. हिन्दी-काव्य में प्रतीकवाद का जन्म और विकास ।
३४. हिन्दी-सन्त-सम्प्रदाय को दादू की देन ।
३५. मीरा—जीवनी और साहित्य का अध्ययन ।
३६. नाटककार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ।
३७. डिंगल-साहित्य ।
३८. दक्खिनी हिन्दी का सूफी-साहित्य ।
३९. निम्नवर्गों में बोली जाने वाली ब्रजभाषा की उपबोलियों का अध्ययन (आगरा जिला) ।
४०. हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य पर शाक्त और शैव सम्प्रदायों का प्रभाव ।
४१. मलयालम और आधुनिक हिन्दी-साहित्य (१८७०-१९५०) का तुलनात्मक अध्ययन ।
४२. १९वीं और २०वीं शताब्दी के सामाजिक और सुधारवादी आन्दोलन और उनका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव ।
४३. गरीबदास का जीवन और उनकी रचनाएँ ।
४४. संस्कृत-महाकाव्यों का हिन्दी-महाकाव्यों पर प्रभाव ।
४५. हिन्दी और बंगला-साहित्यों के नाथ-सम्प्रदाय का तुलनात्मक अध्ययन ।
४६. आलोचना-शास्त्र का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन ।
४७. हिन्दी-खण्डकाव्यों का अध्ययन ।
४८. हिन्दी-साहित्य में बाल-मनोविज्ञान (१८०० तक) ।
४९. केशव-कृत 'रामचन्द्रिका' का पाठ और तत्सम्बन्धी समस्याएँ ।
५०. भक्तिकाव्य में शृंगार रस ।
५१. अवधी-लोक-साहित्य ।
५२. स्वामी रामचरण—जीवनी और रचनाएँ ।

५३. हिन्दी-साहित्य (१६वीं- १७वीं शताब्दी) में सांस्कृतिक तत्त्व और उनका उद्गम ।

५४. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल तथा तत्कालीन रचनाओं का परीक्षण ।

५५. कृष्ण-कथा और कृष्ण-भक्ति-साहित्य का विकास (हिन्दी-साहित्य के विशेष निर्देश सहित) ।

५६. हिन्दी-गीतिकाव्य का संगीत-सम्बन्धी अध्ययन ।

५७. अंगरेजी रोमांसिकवाद का हिन्दी-काव्य के पुनर्जागरण पर प्रभाव ।

५८. हिन्दी-भक्ति-काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि ।

५९. हिन्दी-भक्तमाल-साहित्य (१४००-१८००) ।

६०. राम-भक्ति और उसका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव ।

६१. आधुनिक हिन्दी-गद्य-साहित्य में नारी-चित्रण ।

६२. गढ़वाली लोक-साहित्य—गढ़वाली लोकगाथा-काव्य के विशेष-निर्देश-सहित ।

६३. मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य । (१५००-१७५०) में नारी-भावना ।

६४. देवनागरी लिपि का विकास १००० ई० से ।

६५. सूरसागर की शब्दावली का अध्ययन ।

६६. स्टैण्डर्ड हिन्दी में प्रयुक्त अंगरेजी और अंगरेजी से अनूदित शब्द तथा उनका अर्थ-परिवर्तन ।

६७. स्टैंडर्ड हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों का अर्थ-परिवर्तन ।

६८. रींवा के हिंदी दरबारी कवि—महाराज रघुराजसिंह के विशेष निर्देश सहित ।

६९. हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीयता (१८८५ ई० तक) ।

७०. चौरासी वैष्णवन की वार्ता का पाठ और उसकी पाठ-समस्या ।

७१. मध्यकालीन हिन्दी-काव्य पर लोक-प्रभाव ।

७२. उर्दू और हिन्दी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन (१७००-१९०० ई०) ।

७३. हित हरिवंश और उनके सम्प्रदाय का ब्रजभाषा-साहित्य में योगदान।

७४. कबीर, नानक और दादू का तुलनात्मक अध्ययन।

७५. आधुनिक मराठी और हिन्दी-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन।

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

१. हिन्दी-साहित्य में काव्य-रूपों का विकास।

२. आधुनिक गद्य-साहित्य में हिन्दी की विविध शैलियों का विकास।

३. हिन्दी-वाक्य-विन्यास का विकास।

४. हिन्दी में साहित्यिक आलोचना के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन।

५. हिन्दी-साहित्य पर विदेशी प्रभाव।

६. हिन्दी में महाकाव्य का विकास।

७. हिन्दी में प्रेम-काव्याका विकास।

८. हिन्दी-साहित्य के रीतिकाल में प्रेम-सम्बन्धी भावना।

९. हिन्दी-निबन्धों का अध्ययन।

१०. सूरदास और कृष्ण-भक्ति।

११. हिन्दी और मराठी वैष्णव साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन।

१२. विद्यापति।

१३. नारी-जीवन में साहित्य की साधना।

१४. हिन्दी-कहानियों का जन्म और विकास।

१५. आधुनिक गद्य-काव्य का उद्गम और विकास।

१६. हिन्दी-उपन्यास का विकास।

१७. हिन्दी-साहित्य में राम-काव्य।

१८. ब्रजभाषा-काव्य को नागरीदास की देन।

१९. गत पचीस वर्षों में हिन्दी-साहित्य का विकास।

२०. हिन्दी-कवियों की सौन्दर्य-भावना।

२१. निर्गुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका।
२२. हिन्दी और कन्नड के भक्ति-आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन।
२३. ब्रजभाषा और ब्रजबोली का तुलनात्मक अध्ययन।
२४. खड़ीबोली-आन्दोलन।
२५. उन्नीसवीं शती के प्रारम्भिक सम्पादक और आधुनिक हिन्दी-साहित्य तथा भाषा को उनकी देन।
२६. आधुनिक हिन्दी-साहित्य की यथार्थवादी प्रवृत्तियों का अध्ययन।
२७. राष्ट्रीयता—हिन्दी-साहित्य में एक नूतन शक्ति।
२८. श्री गुरुग्रन्थसाहब में उल्लिखित सन्त कवियों का अध्ययन।
२९. हिन्दी के चारणोत्तर वीर-काव्य का विकास।
३०. नाटकों में यथार्थवाद।
३१. हिन्दी-साहित्य में प्रयुक्त छन्द और उनके मूल स्रोत।
३२. हिन्दी-आचार्यों द्वारा प्रतिपादित शब्द-शक्ति।
३३. सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य।
३४. आधुनिक हिन्दी-काव्य-साहित्य के बदलते हुए मानों का अध्ययन।
३५. रामलीला की उत्पत्ति तथा विकास (विशेष रूप से 'मानस'—रामलीला)।

पंजाब विश्वविद्यालय

१. आधुनिक हिन्दी-कविता पर पाश्चात्य प्रभाव (१८८५ से आगे)।
२. आधुनिक हिन्दी-कविता में रूढ़िवादी भावना।
३. छायावादी कविता के विशेष समीक्षणपूर्वक महादेवी वर्मा का अध्ययन।
४. केशवदास और हिन्दी-कविता का रीति-सम्प्रदाय।
५. आधुनिक हिन्दी-कविता में अभिव्यंजना-कला।
६. आधुनिक हिन्दी-महाकाव्य।
७. हिन्दी-काव्य में छन्दःशास्त्र का विकास (प्रधानतः रीतिकाल पर आधृत)।

८. रीतिकालीन शृंगार-मुक्त-काव्य।
९. हिन्दी-उपन्यास में नायक का स्वरूप।
१०. आधुनिक हिन्दी-कविता (१८५७–१९४७) में भक्ति।

आगरा विश्वविद्यालय

१. हिन्दी-साहित्य को मुसलमानों की देन।
२. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि।
३. वैदिक भक्ति और मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति।
४. भक्ति-सम्प्रदाय तथा मध्यकालीन हिन्दी-काव्य।
५. गीतिकाव्य तथा कृष्ण-भक्ति-शाखा।
६. मध्यकालीन प्रेमगाथाओं और भक्ति-कविता में वार्ता।
७. हिन्दी-साहित्य में आलोचनात्मक चेतना और आलोचना-शास्त्र के मूल तत्वों का मनोवैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक अध्ययन।
८. आधुनिक कविता की मूल प्रेरणाएँ।
९. भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र।
१०. हिन्दी-उपन्यासों का विकास (१८६७–१९४२)।
११. आधुनिक हिन्दी-साहित्य में आलोचना का विकास (१८६८-१९४३)।
१२. आधुनिक हिन्दी-साहित्य में राष्ट्र-भावना का विकास और स्वरूप।
१३. तुलसी की काव्य-कला।
१४. हिन्दी-कविता में गोचारण।
१५. वार्ता साहित्य—साहित्यिक और जीवनीमूलक अध्ययन (१५५०-१७५०)।
१६. आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रेम तथा सौन्दर्य।
१७. भक्ति-युग में वात्सल्य रस।
१८. आधुनिक ब्रज-कविता—विकासात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन।
१९. काव्य में रस।

२०. आधुनिक हिन्दी-कविता में स्वच्छन्दतावाद।
२१. मध्यकालीन कविता में चित्रित समाज।
२२. १९वीं शताब्दी के रामभक्ति-साहित्यका आलोचनात्मक अध्ययन—विशेषकर महात्मा बनदास पर आधृत।
२३. आधुनिक हिन्दी-कविता पर रीतिकालीन कविता का प्रभाव।
२४. पद्माकर तथा उनकी कृतियों का आलोचनात्मक अध्ययन।
२५. हिन्दी गद्य-काव्य—आलोचनात्मक अध्ययन।
२६. मध्यवर्ती पहाड़ी भाषा का आलोचनात्मक अध्ययन तथा उसका हिन्दी से सम्बन्ध।
२७. दादू दयाल : एक अध्ययन।
२८. गत सौ वर्षों में कविता के माध्यम के रूप में ब्रजभाषा और खड़ी-बोली को अपनाने का विवाद।
२९. कृष्ण-काव्य में भ्रमरगीत।
३०. हिन्दी-कविता में करुण रस का विकास (१४००–१७००)।
३१. गुरु ग्रन्थसाहिब : सामाजिक तथा दार्शनिक अध्ययन।
३२. हिन्दी-साहित्य में छायावादी कविता और उसका शास्त्रीय अध्ययन।
३३. घनानन्द।
३४. आधुनिक हिन्दी-कविता में निराशावाद।
३५. भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य।
३६. आधुनिक हिन्दी में वीर-काव्य।
३७. हिन्दी साहित्य पर पौराणिक प्रभाव।
३८. हिन्दी-उपन्यास में नारी-चित्रण।
३९. स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका बानी-साहित्य।
४०. कुछ प्रमुख मुसलमान हिन्दी-कवियों और लेखकों की विशेषताएँ—एक अध्ययन।
४१. प्रेमचन्द से पूर्व के हिन्दी-उपन्यास।
४२. खड़ीबोली के हिन्दी-साहित्य में प्रबन्ध-काव्य।

४३. मतिराम और उनकी कला।
४४. जयशंकर प्रसाद का काव्य और दर्शन।
४५. रामानन्द-सम्प्रदाय तथा हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव।
४६. हिन्दी और मराठी का निर्गुण सन्त-काव्य।
४७. रामचरितमानस के साहित्यिक स्रोत : एक अध्ययन।
४८. सन्त सुन्दरदास।
४९. हिन्दी-साहित्य में हास्यरस।
५०. बालमुकुन्द गुप्त—उनके जीवन और साहित्य का अध्ययन।
५१. मुक्तक-काव्य-परम्परा के अन्तर्गत बिहारी का अध्ययन।
५२. हिन्दी में खण्ड-काव्य।
५३. आधुनिक हिन्दी-काव्य में रहस्यवाद।
५४. शब्द-शक्ति।
५५. कृष्ण-काव्य में भारतीय संस्कृति तथा समाज का चित्रण।
५६. मध्यकाल का कृष्ण-सम्बन्धी साहित्य (१५००–१८०० तक)।
५७. हिन्दी में राम-काव्य का विकास।
५८. चैतन्य-सम्प्रदाय के हिन्दी-कवि और इस सम्प्रदाय का अन्य हिन्दी-कवियों पर प्रभाव।
५९. सिद्धों की विचारधारा और हिन्दी पर उसका प्रभाव।
६०. हिन्दी-उपन्यासों में चरित्र-चित्रण का विकास।
६१. कवि तथा आचार्य केशवदास का जीवनीमूलक तथा आलोचनात्मक अध्ययन।
६२. योग-दर्शन और हिन्दी-काव्य-धारा।
६३ हिन्दी-साहित्य के आधार पर भारतीय संस्कृति (१५००–१७००)।
६४. हिन्दी की स्वच्छन्दतावादी काव्य-परम्परा का प्रारम्भ और पं० श्रीधर पाठक की कृतियों का अनुशीलन।
६५. हिन्दी-उपन्यासों का शास्त्रीय विवेचन।
६६. तुलसी और भारतीय संस्कृति।

६७. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : एक अध्ययन।
६८. मीराबाई।
६९. पं० बालकृष्ण भट्ट—उनका जीवन और साहित्य।
७०. निम्बार्क-सम्प्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त कवि।
७१. भिखारीदास : व्यक्तित्व और कृतित्व।
७२. कन्नौजी लोकवार्ता-साहित्य।
७३. हिन्दी-काव्य में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री का विवेचन (आरम्भ काल से १९वीं शती तक)।
७४. ब्रजभाषा-गद्य का विकास।
७५. नाटिका का अध्ययन।
७६. भक्तिकाल में नारी-चित्रण।
७७. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन।
७८. हिन्दी-गद्य-शैली के विकास में पं० पद्मसिंह शर्मा का स्थान।
७९. हिन्दी में प्रेम-कथानकों की काव्य-परम्परा।
८०. आल्हा का साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक महत्त्व।
८१. खड़ीबोली-प्रान्त का लोक-साहित्य।
८२. खड़ीबोली का विकास।
८३. भारतीय देवभावना और मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में उसका स्वरूप।
८४. आधुनिक हिन्दी-साहित्य में नारी।
८५. रज्जब जी।
८६. कृषक-जीवन-सम्बन्धी शब्दावली (अलीगढ़-क्षेत्र की बोली पर आधृत)।
८७. आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर गांधीवाद का प्रभाव।
८८. हित हरिवंश और राधावल्लभीय सम्प्रदाय।
८९. रीतिकालीन साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि।
९०. तुलसी-दर्शन : एक अध्ययन (दर्शन-विभाग के अन्तर्गत)।

लखनऊ विश्वविद्यालय

१. अवध के प्रमुख हिन्दी-कवि ।
२. शिवनारायणी सम्प्रदाय ।
३. सतनामी सम्प्रदाय के हिन्दी-कवि ।
४. बावरी सम्प्रदाय ।
५. रैदास और उनका काव्य ।
६. तुलसीदास की भाषा ।
७. सूरदास की भाषा ।
८. जायसी के परवर्ती सूफी कवि ।
९. हिन्दी-काव्य में रहस्यवाद ।
१०. हिन्दी में जीवन-साहित्य ।
११. हिन्दी-कविता में प्रगतिवाद ।
१२. हिन्दी-काव्य में करुण रस ।
१३. अवधी का ग्राम-साहित्य ।
१४. आधुनिक हिन्दी-काव्य में अलंकार-योजना ।
१५. बाबू श्यामसुन्दर दास और उनका युग ।
१६. हिन्दी में सतसई-काव्य ।
१७. द्विवेदी-युगीन हिन्दी-कवि ।
१८. बुन्देली भाषा की उत्पत्ति और विकास ।
१९. रीतिकालीन हिन्दी-काव्य में प्रेम और सौन्दर्य-वर्णन ।
२०. रीतिकालीन हिन्दी-काव्य में लोक-जीवन ।
२१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनका साहित्य ।
२२. हिन्दी का गद्य-काव्य ।
२३. मिश्रबन्धु और उनका साहित्य ।
२४. हिन्दी महाकाव्यों में नायक ।
२५. तुलसी-दर्शन-मीमांसा ।
२६. वीरगाथा काव्य में ऐतिहासिक तथ्य ।

२७. महाकवि देव—उनकी जीवनी और काव्य।
२८. अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी-काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि।
२९. खड़ीबोली का लोक-साहित्य।
३०. 'प्रेमधन' और उनका काव्य।
३१. हिन्दी-कविता का विकास।
३२. हिन्दी में गीतिकाव्य का विकास और उसकी भावधारा।
३३. अवधी का ग्राम-साहित्य।
३४. हरिऔध जी की जीवनी और रचनाएँ : एक अध्ययन।
३५. भक्तिकालीन हिन्दी-काव्य में नारी।
३६. सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के कृष्ण-भक्त कवियों की सौन्दर्य-भावना।
३७. हिन्दी-कविता के रीतिकालीन रीतिमुक्त कवि।
३८. हिन्दी के रीतिकालीन काव्य और विभिन्न प्रवृत्तियाँ।
३९. हिन्दी-साहित्य में हास्य और व्यंग्य।
४०. आधुनिक हिन्दी-साहित्य में गांधीवाद।
४१. बुन्देलखण्ड का लोक-साहित्य।
४२. प्रेमचन्द की रचनाओं में समाज और संस्कृति का चित्रण।
४३. हिन्दी का कहानी-साहित्य : एक अध्ययन।
४४. भारतेन्दु के समकालीन हिन्दी-लेखक (भारतेन्दु-युग)।
४५. आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य : एक अध्ययन।
४६. खड़ीबोली के खण्डकाव्य।
४७. हिन्दी के सामाजिक उपन्यास : एक अध्ययन।
४८. प्रसाद के काव्य में आध्यात्मिक तत्त्व।
४९. हिन्दी के नीतिकार कवि (१६५० से १८५६ ई० तक)।
५०. हिन्दी के विभिन्न नाट्य-रूप : उनकी उत्पत्ति और विकास।

५१. आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर पाश्चात्य साहित्यों का (अंगरेजी-फ्रेंच-रशन) प्रभाव।

५२. द्विवेदी-युग के उपन्यास।

५३. हिन्दी के प्रबन्ध-काव्य (संवत् १७०० से १६०० तक)।

५४. आर्यसमाज और हिन्दी-साहित्य।

५५. नाथ-पंथ के हिन्दी-कवि।

५६. ओरछा दरबार के हिन्दी-कवि।

५७. हिन्दी-साहित्य में काव्य-रूढ़ियाँ।

५८. हिन्दी और मलयालम भक्तकवियों का तुलनात्मक अध्ययन।

५६. भारतेन्दुयुगीन कवि।

६०. मैथिली साहित्य के इतिहास का एक अध्ययन।

६१. हिन्दी-समालोचना का विकास।

६२. हरियाना प्रदेश का लोक-साहित्य।

६३. फारसी-साहित्य पर हिन्दी-साहित्य का प्रभाव।

६४. चारण-काल (आरम्भिक हिन्दी-काल) के हिन्दी-साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियाँ।

६५. मलयालम और हिन्दी का कथा-साहित्य : एक तुलनात्मक अध्ययन।

६६. कुरुप्रदेश का लोक-साहित्य।

. बुन्देली भाषा का उद्गम और इतिहास।

. हरिदासी सम्प्रदाय के हिन्दी-कवि : एक अध्ययन।

हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों का अध्ययन।

०. हिन्दी-साहित्य में आत्मकथाओं का विकास।

७१. हिन्दी-साहित्य में नारीत्व।

७२. महाराष्ट्र के हिन्दी-सन्त-कवि।

७३. हिन्दी-साहित्य में शिशु और वात्सल्य-भावना।

राजस्थान विश्वविद्यालय

१. राजस्थान का चारण-साहित्य।
२. आधुनिक हिन्दी-कहानी-साहित्य (१८१८-१८५०) और नई चेतना।
३. हिन्दी-साहित्य को मत्स्य प्रदेश की देन।
४. हड़ौती बोली का रूप।
५. प्रसाद-साहित्य में रस।
६. हड़ौती का लोक-साहित्य।
७. सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य की कलात्मक और दार्शनिक पृष्ठ-भूमि।
८. प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक।
९. हिन्दी के खण्डकाव्य।
१०. हिन्दी का युद्धोत्तर साहित्य।
११. राजस्थान का निरंजन सम्प्रदाय।
१२. आधुनिक हिन्दी-कविता में समाज।
१३. राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह वर्तमान हिन्दी-भाषा और साहित्य के विकास में उनका हाथ, और आज की विविध प्रवृत्तियों में उनका प्रभाव।
१४. काव्यदोष और उनका विकास।
१५. आधुनिक हिन्दी-साहित्य की प्रेरक शक्तियाँ।
१६. आधुनिक हिन्दी-साहित्य में समालोचना का विकास।
१७. हिन्दी-गद्य का निर्माण और विकास।
१८. वर्तमान कथा के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन।
१९. हिन्दी-गद्य का वैभव (१९२५-५०)।
२०. राजस्थानी सन्त कवि।

२१. आधुनिक हिन्दी-साहित्य में राष्ट्रीयता के विकास और रूपों का अध्ययन।
२२. हिन्दी-साहित्य के रीतिकाल में सौन्दर्यभावना और कला।
२३. महाकवि मैथिलीशरण गुप्त जी के काव्य-सम्बन्धी रूप-विधान का क्रम-विकास।
२४. महाकवि हरिऔध के काव्य में रस और रीति के प्रयोग।
२५. आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रतीकवाद के रूप।
२६. हिन्दी का आधुनिक गल्प-साहित्य और प्रसाद जी।
२७. भारतेन्दु के बाद हिन्दी-साहित्य में हास्य-व्यंग्य का विकास।
२८. महादेवी वर्मा के काव्य में भाव-विधान।
२९. हिन्दी के एकांकी नाटक।
३०. जयशंकर प्रसाद—उनका जीवन-दर्शन।
३१. भक्तिकालीन हिन्दी-साहित्य में प्रेम के विविध प्रयोग।
३२. राजस्थानी गद्य का इतिहास।
३३. हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियां (१८७०–१९४९ ई०)
३४. राजस्थान के राजघरानों द्वारा हिन्दी-साहित्य की सेवाएं तथा उनका साहित्यिक मूल्यांकन।

बिहार और पटना विश्वविद्यालय

१. हिन्दी-छन्दों का उद्भव और विकास।
२. हिन्दी-छन्द।
३. हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास।
४. हिन्दी-उपन्यासों का उद्भव और विकास।
५. प्रसाद के उपन्यासों का विवेचनात्मक अध्ययन।
६. कामायनी का दार्शनिक आधार।
७. हरिश्चन्द्र के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन।
८. छायावाद : पृष्ठभूमि और विशेषता।

९. हिन्दी पर गांधी जी का प्रभाव ।
१०. मगही भाषा का ध्वन्यात्मक अध्ययन ।

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

१. राधावल्लभीय सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि में हितहरिवंश के काव्य का अध्ययन ।
२. रीतिकाल के प्रमुख आचार्य (केशवदास, चिन्तामणि, कुलपति, श्रीपति, दास, प्रतापसाहि) ।
३. हिन्दी-काव्य में भ्रमर-गीत की परम्परा ।
४. सूर की काव्य-कला ।
५. प्रेमचन्द-इतर आधुनिक हिन्दी-उपन्यास ।
६. हिन्दी-निबन्ध का विकास ।
७. रामकाव्य की परम्परा में 'रामचन्द्रिका' का विशिष्ट अध्ययन ।
८. आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे राष्ट्रीय भावना (१६२६ से १६५२ तक) ।
९. रीतिकालीन शृंगार-सतसई-साहित्य ।
१०. आधुनिक हिन्दी-गीतिकाव्य ।
११. हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्त ।
१२. मैथिलीशरण गुप्त—व्यक्तित्व और कृतित्व ।
१३. आधुनिक हिन्दी-काव्य में विरह-भावना ।
१४. हिन्दी-काव्य में वात्सल्य रस ।
१५. हिन्दी-साहित्य के निर्माण में पत्रकारों और पत्र-पत्रिकाओं का योग ।
१६. आधुनिक हिन्दी-काव्य में जनवादी प्रवृत्तियाँ ।
१७. प्रेमचन्द की विचारधारा का विकास ।
१८. हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास (सं० १६०० तक) ।
१९. हिन्दी भाषा और साहित्य के निर्माण में रंगमंच, रजतपट और आकाशवाणी का योग (२०वीं शती) ।

सागर विश्वविद्यालय

१. मैथिलीशरण गुप्त के मानसिक और कलात्मक विकास का अध्ययन।
२. शुक्ल जी के सिद्धान्तों का अध्ययन।
३. आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर विविध मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक वादों का प्रभाव।
४. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और समसामयिक साहित्य।
५. आधुनिक हिन्दी-समीक्षा का विकास।

मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

१. परमानन्द और उनका साहित्य।
२. भक्तिकालीन हिन्दी-साहित्य में योग-भावना।
३. रामकाव्य की सामाजिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि।
४. भक्तिकालीन कृष्णकाव्य की पृष्ठभूमि।
५. भक्तिकालीन कृष्णकाव्य में राधा का रूप।
६. सूरदास की जीवनी और काव्य-कला।
७. खड़ीबोली के लोकगीत।
८. मुसलमान कवियों का कृष्ण-भक्ति में योग।
९. हिन्दी-साहित्य में पौराणिक नाटकों का विकास।
१०. खड़ीबोली का उद्भव और विकास।

विश्वभारती विश्वविद्यालय, शान्ति-निकेतन

१. प्रेमचन्द।

नागपुर विश्वविद्यालय

१. हिन्दी-अलंकार-शास्त्र।
२. आधुनिक हिन्दी-काव्य की प्रवृत्तियाँ।
३. हिन्दी-कविता पर विदेशी प्रभाव।
४. भक्तिकाल की कविता में दर्शन।
५. हिन्दी-साहित्य में निबन्ध का विकास।

६. मीरा—जीवन और दर्शन ।
७. हिन्दी-नाटक-तन्त्र तथा नाटकों का आलचोनात्मक अध्ययन ।
८. हिन्दी-काव्य में सूफीवाद और उसके प्रमुख कवि जायसी का आलोचनात्मक अध्ययन ।
९. जयशंकर 'प्रसाद' की कृतियों का अध्ययन ।
१०. ब्रजकाव्य का आधुनिक हिन्दी-काव्य में विकास ।
११. हरिश्चन्द्र ।
१२. मड़िया शाखा में भारतीय आर्यभाषाओं और बोलियों की धाराएँ ।
१३. गान्धीवाद का आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव ।
१४. आधुनिक हिन्दी-कविता की प्रेरणाएँ ।
१५. हिन्दी-रंगमंच ।
१६. जैन विद्वानों की हिन्दी-साधना ।
१७. हिन्दी राष्ट्रीय कविता का विकास ।
१८. हिन्दी-साहित्य में गद्य का विकास ।
१९. हिन्दी-साहित्य के विकास में महिलाओं का योगदान ।
२०. आधुनिक हिन्दी-कविता में नूतन उद्भावनाएँ ।
२१. 'हरिऔध' की कृतियों का अध्ययन ।
२२. पद्माकर और उनकी कविता ।
२३. आधुनिक हिन्दी-काव्य में शृंगार-भावना ।
२४. हिन्दी समालोचना का विकास ।
२५. छत्तीसगढ़ी लोक-साहित्य का अध्ययन ।
२६. 'बनारसीदास' की कविता ।
२७. हिन्दी में लघुकथा का विकास ।
२८. आधुनिक हिन्दी-भाषा का विकास ।
२९. हिन्दी में गीतिकाव्य ।
३०. बुन्देलखण्डी लोक-साहित्य ।
३१. निमाड़ी लोक-साहित्य ।

३२. बंगला का हिन्दी-भाषा और साहित्य पर प्रभाव।
३३. भारतेन्दु-युग।
३४. 'गुरु ग्रन्थसाहिब'।
३५. रीतिकाल में नारी-चित्रण।
३६. राजा शिवप्रसाद की हिन्दी-सेवा।
३७. मालवी लोक-साहित्य।
३८. हिन्दी-उपन्यासों में नारी चित्रण।
३९. 'रामचरित-मानस' का शास्त्रीय अध्ययन।
४०. अवधी-साहित्य और लोक-संस्कृति।
४१. हिन्दी-काव्य में वीर रस।
४२. हिन्दी-उपन्यासों का विकास।
४३. प्रेमचन्द के उपन्यासों का चरित्र-अध्ययन।

× × ×

उपर्युक्त विवरण हिन्दी-अनुसन्धान की प्रगति का दिग्दर्शन-मात्र है। हर्ष की बात है कि विभिन्न विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत पारंगत विद्वानों के पर्यवेक्षण में हिन्दी-भाषा और साहित्य के विविध विषयों का विशेष गवेषणात्मक अध्ययन हो रहा है। विश्वास है कि हिन्दी का अधिकारिवर्ग अनुशीलन की इयत्ता के साथ ही उसकी इदृक्ता को भी वृद्धिमती बनाएगा।